श्री गणेशाय नमः

श्री जानकीवल्लभो विजयतेतराम्

देवरहा प्रसाद

हे वीतराग! शत्-शत् प्रणाम,
हे योगिराज! शत्-शत् प्रणाम।
हे ब्रह्मनिष्ठ! शत्-शत् प्रणाम,
हे देवराह! शत्-शत् प्रणाम॥

श्रीमद् चरणकिङ्कर
—'राम दास'

• प्रकाशक/स्वामी/मुद्रक •
राम दास

• संस्करण •
दिसम्बर–पञ्चम-2020

• सहयोग राशि •
50/- (पचास रुपये मात्र)

• संरक्षक •
कुँवर श्री रघुराज प्रताप सिंह

• सम्पादक •
राम दास

• संशोधक •
डॉ. अरुण कुमार त्रिपाठी

• परामर्शदात्री समिति •
**आचार्य सियाराम शास्त्री, श्री फूलचन्द्र दुबे, श्री मनोज मित्तल,
श्री विजय कुमार, डॉ. हरेन्द्र मिश्र**

• मुद्रण •
**दि इलाहाबाद ब्लॉक वर्क्स प्रा. लि.
329/255 चक, जीरो रोड, प्रयागराज
दूरभाष– 0532-2564543**

• सर्वाधिकार सुरक्षित–राम दास

संपादन–संचालन पूर्णतः अवैतनिक एवं अव्यवसायिक

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक राम दास की ओर से ''दि इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स प्रा. लि. 329/255 चक जीरो रोड, प्रयागराज-211003'' उत्तर प्रदेश द्वारा मुद्रित एवं श्री देवरहा बाबा मंच न्यास कोहना, झूंसी-211019 उत्तर प्रदेश, प्रयागराज से प्रकाशित

सम्पर्क सूत्र
श्री देवरहा बाबा मंच
शास्त्री पुल के नीचे, झूँसी, गंगा तट, प्रयागराज
पिन कोड — **211019**
E-mail : sridevrahababamanch@gmail.com

सुधीजन हमें अपने लेख उक्त ई-मेल के पते पर भेज सकते हैं।
website : devrahababamanch.org

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय.....4

ब्रह्मर्षि-योगिराज-देवरहा-स्तुति-शतकम्.....5

योग और योगी सम्राट देवरहा बाबा.....6

नैकं चक्रं परिभ्रमयति.....9

सहजीवन का मार्ग 11

सकल गुणनिधान भगवान् राम 14

गोवंश विषयक प्राचीन एवं अर्वाचीन परिदृश्य.....17

हिन्दू धर्म के पौराणिक रहस्यों का उद्देश्य और अभिप्राय.....22

शिवप्रिया सती का भ्रम और सत्संग.....24

रम्या-रामायणी-कथा.....28

कलियुग रूपी असुर की वास्तविकता के दर्शन त्रेता और द्वापर में.....30

सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में हठयोग.....32

सम्पादकीय

योग का भारतीय आध्यात्मिक साधना में अनादिकाल से महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक, सन्ध्या-वन्दन से प्रारम्भ करके समाधि तक, प्रवृत्तिमार्गियों से निवृत्तिमार्गियों तक, आस्तिकों से प्रारम्भ करके नास्तिकों तक, योग की उपयोगिता के अनेक प्रमाण हैं। योग का विकास उन महान ऋषियों-मुनियों, सन्तों और योगियों के अनुभवों और प्रयत्नों से हुआ, जो हमारी भारत-माता की गोद में विभिन्न युगों में उत्पन्न हुए हैं। चित्तवृत्तियों को सांसारिक विषयों से हटाकर अन्तरमुखी करना अर्थात् उन्हें अपने चित्त में लीन कर देना ही योग है। महर्षि पतंजलि ने समाधिपाद में योग को समाधि के रूप में परिभाषित किया है। समाधि में जीव कामना, वासना, आसक्ति, संस्कार आदि सब प्रकार की मलिनता को दूर करके ब्रह्ममय हो जाता है।

आज शरीर को स्वस्थ रखते हुए जीवात्मा की मुक्ति के लिए हठयोग की अत्यधिक आवश्यकता है। परम् पूजनीय देवरहा बाबा कहा करते थे—''बच्चा योग की उपलब्धियाँ साधना का विषय है, विज्ञान का नहीं। योगी का रहस्य तो बड़ा ही विचित्र होता है, वह उसे कभी भी प्रकट नहीं करता।'' परम पूजनीय बाबा पातंजल योग और उसमें भी हठयोग की विशेष रूप से चर्चा किया करते थे। वह कहा करते थे कि इसमें मन की अधोमुखी वृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी किया जाता है, शुक्र साधना इस योग का प्रधान तत्त्व है। नाथ पन्थ के अनेक ग्रन्थ हठयोग की विधियाँ बताते हैं, जिनमें सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, गोरक्षसंहिता, हठयोग प्रदीपिका तथा घेरंड संहिता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हठयोग की साधना, पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड दर्शन, अर्थात् जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सब हमारे व्यष्टि शरीर में भी है, इसका प्रतिपादन करती है। हठयोग की साधना में सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी में सन्तुलन स्थापित होता है, जिसके फलस्वरूप तीसरी नाड़ी, आध्यात्मिक शक्ति सुषुम्ना का जागरण होता है। इस प्रकार हठयोग तन को स्वस्थ, मन को स्थिर और आत्मा को परमपद में प्रतिष्ठित करने तथा अमृतत्त्व को प्राप्त करने का अमोघ साधन है। मुक्ति का पात्र वही साधक होता है जो निम्नलिखित योगाभ्यास में कुशल होता है—

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डियानं जालंधरम्।
मूलबन्धं चयो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः॥

इन योगाभ्यासों का ज्ञाता कुण्डलिनी को जागृत करके षट्चक्रभेदन करके कैवल्य की प्राप्ति करता है।

देवरहा प्रसाद का यह पंचम अंक आप लोगों की सेवा में प्रस्तुत है। आप सभी सुधी पाठकजन से अनुरोध है कि देवरहा बाबा के उपदेशों का पालन करते हुए, योगाभ्यास एवं प्रकृति-प्रदत्त जड़ी-बूटियों का सेवन करते हुए शरीर को रोगरहित करें तथा मन को धीरे-धीरे भौतिकता की ओर से हटाते हुए प्रकृति की गोद में लौटें एवं पर्यावरण का संरक्षण करें।

चरण किंकर
रामदास

ब्रह्मर्षि-योगिराज-देवरहा-स्तुति-शतकम्

गत अङ्क से आगे—

अहिंसयास्ति साध्यमत्र किं विदन्ति नो जनाः,
निदर्शनं हि योगिराडयं प्रदृश्यतामिह।
न संशयोऽस्तु शास्त्र वर्णनेषु यस्य कस्यचित्,
इति स्वयं प्रदर्शिता समानभावना पुनः॥21॥

अहिंसा से क्या साध्य नहीं है? लोग यह नहीं जानते, इस विषय में इस योगिराज को ही दृष्टांत के रूप में देखें। शास्त्र के वर्णनों में जिस किसी को भी संशय नहीं होना चाहिये। इस प्रकार की समान भावना महाराजजी के द्वारा प्रदर्शित की गयी है।।21।।

कदापि कुम्भपर्वणि यदा हि कुञ्जरो महान्,
चकार संकटं महज्जनान्विमर्दयन्मुहुः।
तदा च राजकीयकोपसम्भवं भयं महत्,
निवारयन् दयापरो ररक्ष प्राणसङ्कटात्॥22॥

एक बार (सन् 1962) हरिद्वार के कुम्भ पर्व पर एक मतवाला हाथी लोगों को कुचल रहा था तथा संकट उपस्थित कर रहा था तो उसे प्रशासन की ओर से गोली मारने का आदेश हो गया था। ऐसे महान् संकट में पड़े जन-समाज और हाथी दोनों की रक्षा श्रीमहाराज जी के द्वारा ही हुई थी।।22।।

वनेषु निर्जनेष्वपि गुहासु कन्दरेष्वपि,
मुनीन् मृगान् वनेचरानपि कृतार्थयन्नसौ।
करीन् करेण संस्पृशन् कृपाकटाक्षकोटिभिः,
मृगेन्द्रवृन्दवन्दितो जयत्यसौ महामुनिः॥23॥

यह योगिसम्राट् वहाँ पर निर्जन वन-पर्वतों की गुफाएँ तथा कन्दराओं—सब जगह विचरते हुए मुनिजनों, जंगली पशुओं आदि को कृतार्थ करते हैं। जंगली हाथियों को अपने हाथ से शुभाशीर्वाद और प्रसाद वितरण करते हुए तथा कहीं पर मृगेन्द्रवृन्द से वन्दित यह मुनिवर वन्दनीय एवं सर्वश्रेष्ठ हैं।।23।।

महोत्सवेषु कुम्भपर्वसु स्वयं समागताः,
व्रजन्ति तत्र कोटिशो जनाः समस्तभूतलात्।
तदा मुनीन्द्रमण्डलेऽतुलो द्वितीय एव वा,
विराजते शशी यथोडुमण्डले प्रभान्वितः॥24॥

कुम्भ पर्वों में जहाँ कि प्रायः सारे संसार के लोग आते हैं, वहाँ पर भी सारे सन्त समाज में बाबा अनुपम तथा श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं। आकाश में तारों के बीच में चन्द्रमा के समान ही प्रकाशित होते हैं।।24।।

न रागजादिसम्भवा हि सम्प्रदायभावना,
मुनीन्द्रसन्निधौ कदापि गोचरास्ति कस्यचित्।
अतः समस्तसाधवो नमन्ति भावनान्विताः,
यतीश्वरं हरिं यथा स विश्ववन्दितो गुरुः॥25॥

यह भी देखा जाता है कि श्रीमहाराज के समीप राग-द्वेष आदि की जननी साम्प्रदायिक भावना का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि किसी भी सम्प्रदाय के महात्मागण श्रीमहाराज के चरणों में अवनत होते हैं। जैसे कि भगवान् नारायण के चरणों में सभी नमस्कार करते हैं। अतः महाराज विश्व के ही वन्दनीय महान् गुरु एवं सन्त हैं।।25।।

—क्रमशः आगामी अंक में

योग और योगी सम्राट देवरहा बाबा

डॉ. रामनरेश त्रिपाठी

योग की उत्पत्ति संस्कृत के युज् धातु से मानी गई है। परमात्मा से अपने आत्मा को आत्मसात करना यही योग है और यह तभी संभव है जब आप अपनी चित्त वृत्तियों को एकाग्र कर लें। इसीलिए कहा गया है—

''योगः चित्त वृत्ति निरोधः''

अर्थात् बहिर्मुखी चित्त वृत्तियों को सांसारिक विषयों से हटाकर अंतर मुख करना है। उन्हें अपने चित्त में लीन कर देना ही योग है।

तस्यापि निरोधे सर्व निरोधान्निर्बीजः समाधि।

अर्थात् विवेक ख्याति के उत्पन्न होते ही चित्त की वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं और प्रज्ञा जन्य संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में संकल्प समाप्त हो जाते हैं और जीवात्मा परमात्मा का अंश हो जाता है। आत्मा और मन का एक रूप होना ही समाधि है।

गीता में भी कहा गया है।

चंचलं ही मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्यं वायु रिव सु दुष्करम्।।

योग दर्शन में कुल चार पाद और 195 सूत्र हैं। समाधि पाद में 51 साधन पाद में 55 विभूति पाद में 55 और कैवल्यपाद में 34। इस दर्शन पर अनेक भाष्य तथा वृत्तियाँ हुई हैं। योग में चित्त की बहिरमुखता तथा ईश्वर प्रणिधान पर बहुत अधिक चर्चा की गई है। महर्षि पतंजलि ने समाधि पाद की रचना समाहित चित्तवाले विशेष योगियों के लिए की है। साधारण कोटि के योगियों के लिए केवल ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप बता दिया है, परन्तु इसमें चित्त की शुद्धि के जो उपाय बताए गए हैं वह कष्ट साध्य है। इसलिए महर्षि ने साधन पाद में कुछ सरल उपायों का विवेचन किया है। इस प्रकार उन्होंने योग साधना को क्रिया योग साधना कहा है—

तपः स्वाध्याये सश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः।

वैसे अष्टांग योग में योग के आठ अंग बताए गए हैं।

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽअष्टाङ्गानि

वर्तमान मे हठयोग की तथा अन्य विशेष योगों की अत्यधिक आवश्यकता है। इनका विशेष महत्त्व देशा जा रहा है। पूज्य देवराहा बाबा कहा करते थे बच्चा योग की उपलब्धियाँ साधना का विषय है, विज्ञान का नहीं। पातंजल दर्शन के विभूति पाद में योग से होने वाली अनेक विस्मयकारी विधियों का वर्णन प्राप्त होता है, जिसे विज्ञान के वर्तमान युग में स्वीकार करना संभव नहीं प्रतीत होता।

बाबा कहा करते थे कि ''योगी का रहस्य तो बड़ा ही विचित्र होता है वह उसे कभी भी प्रगट नहीं करता। आज विज्ञान को सर्वोपरि बताया जा रहा है और प्रक्रिया से सिद्ध करने का आग्रह किया जा रहा है, किंतु क्या संभव है कि योगी विज्ञान की प्रयोगशाला में अपनी सिद्धियों का प्रदर्शन करें। योग का विज्ञान से विरोध नहीं है।

''**विविधम् ज्ञानम् विज्ञानम्** और **एवं ज्ञानं ज्ञानम् सर्वम् सर्वात्मकम्।**'' का सिद्धांत किसी सीमा तक अब वैज्ञानिकों को भी मान्य है। अणु में विराट के तत्त्व हैं और विराट में असंख्य अणुओं की सत्ता है। परन्तु जो वस्तु जितनी ही अधिक संयमित होगी उसमें उतनी ही अधिक शक्ति होगी। योगी में उससे भी बड़ी शक्ति हैं योग में नादबिंदु के माध्यम से इस रहस्य को समझाया गया है।

वस्तुतः योगी का संकल्प अमोघ होता है और वह ईश्वर के संकल्प के समान ही शक्तिशाली होता है। उसकी दृष्टि में सर्वत्र ईश्वर ही है उसकी इच्छा होती है इसलिए उसके संकल्प का ईश्वरीय नियमों से कभी विरोध नहीं होता है।

वह अपनी योग शक्ति के पदार्थों के संघठन को बदल सकता है और पदार्थ के धर्म में सभी विपर्यय ला सकता है। पिस्तौल से भीर हुई गोली को निष्क्रिय कर सकता है। विष की मारण शक्ति को समाप्त कर सकता है तथा परमाणुओं के संघठन से किसी भी वस्तु का निर्माण कर सकता है परन्तु उस वस्तु में कार्य कारण भाव विद्यमान रहेगा।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसे केवल एक चौपाई के माध्यम से स्पष्ट किया है—

जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत शैल वन, भूतल भूरि निधान।।

पूज्य बाबा पातंजल योग और उसमें भी हठयोग की विशेष रूप से चर्चा किया करते थे। वह कहा करते थे कि मन की अधोमुखी वृत्तियों को ऊर्ध्व मुखी किया जाता है शुक्र साधना इस योग का प्रधान तत्त्व है। **मरणम् बिंदु पातेन, जीवनम् बिंदु धारणात।**

बिंदु अर्थात् शुक्र के पश्चात इस योग में दूसरा तत्त्व प्राण है तथा तीसरा तत्व मन है। इनमें से किसी एक का नियमन करने से शेष दो स्वयं नियंत्रित हो जाते हैं। हठयोग के अनेक ग्रंथ हैं इनमें गोरक्ष संहिता, हठयोग प्रदीपिका, सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति तथा घेरंड संहिता विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

संपूर्ण योग साधना में सूर्य अर्थात् पिंगला नाड़ी या प्राणवायु तथा चंद्रमा अर्थात् वीरानाडी या अपान वायु को आधार माना गया है। योगी सूर्य और चंद्र का ज्ञान तभी कर सकता है जब उसे 6 चक्रों 16 आधारों और 2 लक्षणों तथा व्योग पंचकों की पूरी जानकारी हो। संपूर्ण हठयोग इन्हीं अंगों का विस्तार है। आसनों की संख्या 84 लाख तक बताई गई है जिनमें योग साधना के लिए 84 आसनों का वर्णन है उनमें भी 32 आसन प्रधान माने गए हैं। मुद्राएँ भी अनेक हैं घेरंड संगीता में 25 मुद्राओं का उल्लेख है हठयोग प्रदीपिका में 10 मुद्राओं को प्रमुख माना गया है

महामुद्रा महा बंधो महावेध्यश्च खेचरी।
उड्यानम् मूलबंधश्च बंधो जालंधरा विधः।।
करणी विपरीताख्या वज्रौली शक्ति चालनम्
इदम् हि मुद्रादशकम् जरा मरण नाशकम्।।

ये 10 मुद्राएँ हैं जिनसे बुढ़ापा और मृत्यु तक में भी विजय प्राप्त की जा सकती हैं प्राणायाम का महत्त्व बताते हुए बाबा कहते थे—

प्राणायामात्खेचरत्वम। प्राणायामाद्रोगनाशनम्।
प्राणायामाद् बोधयेच्छक्तिं। प्राणायाम मनोन्मनी।
आनंदो जायते चित्ते। प्राणायामीसुखी भवेत्।

इसी प्रकार खेचरी मुद्रा के महत्त्व को बाबा इस प्रकार दर्शाया करते थे—

''न रोगो मरणम् तंद्रा न निद्रा क्षुधा तृषा।
न च मूर्छा भवेत्तस्य तो मुद्राओं वेत्ति खेचरीं।
पीड्यते न स रोगेण। लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रा वेत्ति खेचरीम्।''

योग की पराकाष्ठा योगी की सहज समाधि और यह समाधि प्राण और मन के लय पर आधारित है। सिद्ध सिद्धांत-पद्धति में हठयोग के 16 आधार माने गए हैं—

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपुर मनाहतम
विशुद्ध माज्ञाचक्रं च बिन्दुर्भूय कला पदम।
निवोधिका तथार्धेन्दु नादो नादान्त एव च।
उन्मनी विष्णु वक्त्रं च ध्रुवं मंगलिकः शिवः।
इत्येतत् षोडषाधारं कथितं योगि दुर्लभम्।।

योगी नाद ब्रह्म अर्थात् नादानुसंधान की चतुर्थ निष्पत्ति अवस्था को परम सिद्ध अवस्था मानता है। जब योगी नादानुसंधान की चतुर्थ निष्पत्ति अवस्था को प्राप्त कर लेता है उस समय नादानुसंधान के अतिरिक्त मन के विलय का कोई दूसरा उपाय नहीं रहता है इसलिए कहा गया है—

सर्व चिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसंधेयो योग साम्राज्य मिच्छिता।

बाबा अपनी आयु के क्रम में हमेशा इस श्लोक को कहा करते थे बच्चा

एकसृष्टि मयं बीजं एक मुद्रा स-च खेचरी।
एकोदेवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी।

आज योगासन को ही लोग योग समझ बैठे हैं परन्तु योग विद्या ब्रह्मविद्या है। सिद्ध योगी स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है उसके लिए कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होती है। हमारे शरीर के छह चक्र और मंत्रों का समावेश स्वयं में योग है। यही कुंडलिनी को जागृत करता है और यही सहस्त्रार में ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। हमारे वर्ण अक्षर अपने आप में मंत्र हैं और इन्हीं से शरीर और ब्रह्मांड में शक्ति का चालन होता है। योगासन से आप स्वास्थ्य लाभ कर सकते हैं परन्तु योग विद्या को जानना समझना ब्रह्ममय हो जाना कुछ और ही बात है जो देवरहा बाबा जैसे सिद्ध योगियों में व्याप्त थी। बाबा की योग परंपरा को देवरहा दिव्य दर्शन, देवरहा ज्ञान गंगा, जर्नी ऑफ योग आदि ग्रन्थों में भली-भाँति दर्शाया गया है।

प्रयागराज, 9415235128

शोधनं दृढ़ता चैव, स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्षं निर्लिप्तं च, घटस्थं सप्त साधनम्।।

नैकं चक्रं परिभ्रमयति

भगवती चरण

आचार्य चाणक्य का नाम भारतीय इतिहास में अमर है। उनका पितृप्रदत्त नाम विष्णुगुप्त था। कुटिल गोत्र के होने के कारण उन्हें कौटिल्य भी कहा गया है। वे श्रोत्रिय ब्राह्मण थे और मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के समकालीन थे। प्रारम्भ में वे तक्षशिला में अर्थशास्त्र के आचार्य थे और बाद में सम्राट चन्द्रगुप्त के महामन्त्री बने।

चाणक्य का प्रारम्भिक जीवन संघर्ष से भरा था। उनके चरित्र को उनके प्रारम्भिक जीवन की एक घटना बड़ी सहजता से उद्भासित करती है। एक बार से मगध की यात्रा पर थे, रास्ता ऊबड़-खाबड़ और कांटों से भरा था। रास्ते में उनके पाँव में एक कांटा चुभ गया। उन्होंने अपने शिष्यों से कहकर सारे नागफणी के कंटे निकलवा दिए। उन्होंने न सिर्फ कांटों को उखड़वाया बल्कि उन पेड़ों की जड़ों में मट्ठा लाकर डलवा दिया ताकि वे दोबारा न उग सकें। इस एक घटना से उनकी विचारधारा का पता चलता है।

वे ऐसे महामन्त्री थे जो राजमहलों में न रहकर कुटिया बना कर रहते थे। विद्वान और मौर्य साम्राज्य का महामन्त्री होने के बावजूद कौटिल्य का जीवन सादगी का जीवन था। उनका जीवन 'सादा जीवन उच्च विचार' का सही प्रतीक था।

उन्होंने अपने मन्त्रित्वकाल में अत्यधिक सादगी का जीवन बिताया। वे एक छोटे-से मकान में रहते थे और कहा जाता है कि उनके मकान की दीवारों पर गोबर के उपले थोपे रहते थे। उनकी मान्यता थी कि राजा या मन्त्री अपने चरित्र और ऊँचे आदर्शों के द्वारा लोगों के सामने एक प्रतिमान दे सकता है। उन्होंने सदैव मर्यादाओं का पालन किया और कर्मठता की जिन्दगी बितायी। कहा जाता है कि बाद में उन्होंने मन्त्री-पद त्यागकर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत किया था। वस्तुतः उन्हें धन, यश और पद का कोई लोभ नहीं था। सारतत्त्व में वह एक वीतरागी, तपस्वी, कर्मठ और मर्यादाओं का पालन करनेवाले व्यक्ति थे, जिनका जीवन आज भी अनुकरणीय है।

उन्होंने अर्थशास्त्र, चाणक्य-नीति और चाणक्य-सूत्र का प्रणयन किया। उनके द्वारा रचित अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ राजनीति, अर्थनीति, कृषि, समाज-नीति आदि का महान ग्रन्थ है। उनकी प्रसिद्धि का आधार-स्तम्भ अर्थशास्त्र है, लेकिन अन्य दोनों ग्रन्थ भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

चाणक्य नाम से तो चाणक्य-नीति सार अथवा दर्पण से लोग परिचित थे, लेकिन् कौटिल्य नाम से लोग कोई सवा-सौ साल पहले तक पूरी तरह अनभिज्ञ थे। यह 1905 की बात है जब मैसूर ओरिएण्टल गवर्नमेन्ट लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन रुद्रपत्तन साम शास्त्री को एक पाण्डुलिपि हाथ लगी, जो उन्हें एक अनजाने से पण्डित ने उपलब्ध कराया था। यह 168 पृष्ठों की संस्कृत पाण्डुलिपि थी। इस ग्रन्थ में पन्द्रह अधिकरण, 180 प्रकरण, 150 अध्याय और 380 कारिकाएँ हैं। कुल मिलाकर लगभग 6000 श्लोकों का यह ग्रन्थ है। इसमें लिखा था अर्थशास्त्र पूर्व के आचार्यों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व को अर्जित कर उसकी रक्षा की जा सकती है। इसके बाद अध्ययन किए गए विषयों को सूचीबद्ध किया गया है। प्राक्कथन में ही यह लिखा गया है कि सरलता से ग्राह्य इस आख्यान के संकलनकर्त्ता कौटिल्य हैं। इसी ग्रन्थ की आज विश्वव्यापी महत्ता है।

अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र की किताब है और यह शासक के लिए लिखा गया ग्रन्थ है, जिसमें राज्य, राजा, राज्य की विभिन्न संस्थाओं और उन संस्थाओं के क्रिया-कलापों, नियम-कायदों, कर्त्तव्यों और कतिपय सिद्धान्तों को

सूत्रबद्ध किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार ये तमाम निर्देश विजिगीषु यानी विजय के इच्छुक राजा के लिए है।

मगध का तत्कालीन शासक धनानंद उनसे द्वेष रखता था। ऐसा कहा जाता है कि उसी ने उनके पिता चणक का वध किया था। वह एक बार अपनी सभा में उनका अपमान कर चुका था, और तभी से आचार्य चाणक्य कृतसंकल्प थे कि उसको पदच्युत करने के बाद ही अपनी शिखा दुबारा बांधेंगे। समय आने पर उन्होंने अपना संकल्प पूरा किया। उन्होंने अपने शिष्य चन्द्रगुप्त को मगध की सत्ता पर बिठाया। अर्थशास्त्र की रचना भी उन्होंने चन्द्रगुप्त की शिक्षा के लिए ही की थी।

आचार्य चाणक्य एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सभी नागरिकों में उत्कृष्ट गुणों का विकास हो सके। वे एक ऐसे भारतवर्ष की रचना करना चाहते थे किसमें छोटे-छोटे सभी राज्य एक झण्डे के नीचे आकर एक राष्ट्र की रचना करें। उन्होंने अर्थ अर्थात् सम्पदा का आधार ही राज्य को माना है—**अर्थस्य मूलं राज्यम्।** यह अर्थ ही उनकी नजर में धर्म का आधार है और धर्म के बिना सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः चाणक्य ने यह प्रतिपादित किया है कि सुख-प्राप्ति के लिए राज्य का निर्माण जरूरी है, तभी राजा और प्रजा दोनों सुखी रह सकते हैं। राज्य-निर्माण के लिए उन्होंने मन्त्रियों की भूमिका को सबसे जरूरी माना है—**नासहायस्य मन्त्रनिश्चयः।** अर्थात् योग्य सहायकों के बिना सही निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है। साथ ही पड़ोसी राज्यों से सन्धियों तथा पारस्परिक व्यवहार का आदान-प्रदान करते समय और सम्बन्ध-विच्छेद आदि का निर्वाह करते समय राजा को पूरी तरह अपने मन्त्रिमण्डल पर निर्भर करना चाहिए—**सन्धिविग्रहयोनिर्मण्डतः।** भविष्य के अन्धकार में छिपे कार्य के लिए श्रेष्ठ मन्त्रण, दीपक के प्रकाश के समान होती है—**कार्यांधस्य प्रदीपो मन्त्रः**। मन्त्रणा की सम्पत्ति से ही राज्य का विकास होता है—**मन्त्र सम्पदा ही राज्यं वर्धते**।

अपनी इसी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा है कि—**नैकं चक्रं परिभ्रमयति**। अर्थात् एक पहिया अकेला नहीं घूम सकता है, अकेले कोई भी कार्य अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। यही उनकी शिक्षाओं का सार है, अर्थात् सबको संगठित करने की शक्ति ही राज्य की आधारशिला है।

IRS, दिल्ली

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढ़म्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।।
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना च निर्लिप्तं मुक्तिरेव न संशयः।।

सहजीवन का मार्ग

विजय कुमार, IRTS

हम अपनी बात एक छोटी-सी कहानी के साथ शुरू करते हैं। एक आश्रम बहुत सघन वन में था, लेकिन वहां निवास के लिए केवल एक गुफा थी। वहां उस काल के एक प्रसद्धि ऋषि रहा करते थे। वे सामान्यतया किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते थे। लेकिन बहुत कठिन परीक्षा देने के बाद कुछ युवा उनके आश्रम में प्रवेश पा जाते थे। एक समय उनके आश्रम में पाँच नए शिष्यों को प्रवेश मिला। एक बार जब गुरू कहीं गए हुए थे, तब शिष्यों ने सोचा कि हमारा आश्रम बहुत असुरक्षित है, हमें इसे सुरक्षित बनाने के लिए कुछ करना चाहिए. उन्हें लगा कि इतने छोटे से कार्य के लिए गुरू जी की आज्ञा आवश्यक नही है। उन्होंने कटीली झाड़ियों से आश्रम को चारों ओर से घेर दिया और आने जाने के लिए एक द्वार का भी निर्माण कर दिया. साथ ही ऋतु प्रभाव से बचने के लिए उन्होंने दो कुटिया भी बनाई। एक गुरू के लिए और एक शिष्यों के लिए।

गुरूजी जब आश्रम लौट कर आए तो देखकर उन्होने शिष्यों के पास बुलाया और कहा कि तुमने यहां वन के पशु पक्षियों से और ऋतु प्रभाव से सुरक्षा के साधन तो कर लिए, लेकिन क्या तुम्हारे भीतर जो पशुता है, और तुम्हारे भीतर की प्रकृति में समय-समय पर जो ऋतु परिवर्तन हो रहा है, उसके बचाव के कुछ उपाय किए हैं? शिष्यों के पास कोई उत्तर नहीं था। उन्होंने कहा कि हमने कोई उपाय नहीं किए हैं। अब गुरू ने कहा तुम्हें वे उपाय भी अवश्य करने चाहिए। शिष्यों के आग्रह पर गुरू ने उन्हें अपने अंतःकरण पर विजय की शिक्षा दी। और उन्हें कहा कि अब तुम यह आश्रम छोड़कर चले जाओं। जाते समय इस आश्रम में अपने द्वारा किए गए सभी निर्माण कार्य भी तोड़ कर जाना।

सभी शिष्य बहुत आश्चर्य में पड़ गए। उन्होंने पूछा कि ऐसा क्यों? यह कुटिया और सुरक्षा के उपाय आपके और आने वाले अन्य शिष्यों के लिए सदैव उपयोगी रहेंगे। तब गुरू ने कहा, यदि मुझे यही रास्ता चुनना होता तो मैं कई वर्ष पूर्व यह सब कर चुका होता। मैंने जो रास्ता चुना है, वह विजय का नहीं सहजीवन का है। जो जैसा हैं, उसके साथ वैसे ही जीने का रास्ता।

शिष्य बहुत आश्चर्यचकित थे। तब उन्होंने गुरू से पूछा कि, आपने हमें उस रास्ते पर चलना क्यों नहीं सिखाया, तो गुरू ने कहा कि मुझसे शिक्षा से पूर्व ही तुम सब ने अपना रास्ता चुन लिया था। तुमने जो निर्माण किया, उसने मुझे इस बात का एहसास करा दिया कि तुम्हारा रास्ता प्रकृति को जीतने का रास्ता है। इसीलिए मैंने तुम्हारे स्वभाव के अनुकूल ही तुम्हें शिक्षा दी। तुम सब ने मुझ पर विश्वास किया होता, तो मैं तुम्हें उस मार्ग पर ले चलता, जिस मार्ग पर मैं स्वयं चल रहा हूँ। यदि तुम मेरे पास खाली पात्र लेकर आते, तो मैं उसमें वह भरता, जो मेरे पास था। तुम भरा हुआ पात्र लेकर आए इसीलिए मैंने केवल इतना किया कि तुम्हें उसे शुद्ध करने का मार्ग दिखा दिया। सब शिष्यों ने पूछा कि क्या इस मार्ग पर चलकर जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्त कर पाएंगे? तब गुरू ने कहा कि किसी भी सन्मार्ग पर चलकर परम लक्ष्य को प्राप्त करना सदैव संभव होता है, लेकिन हमें हमारे मार्ग के प्रति विश्वास के साथ-साथ उस पर श्रद्धा व प्रेम होना चाहिए। यह कहकर गुरू ने शिष्यों को विदा दी।

आज संपूर्ण मनुष्य जाति जिस स्थान पर खड़ी है, वहाँ वह अपने लिए कोई मार्ग तो तलाश कर रही है, लेकिन उसकी स्थिति भी उन शिष्यों की तरह ही है, जो अपने तय किए हुए मार्ग को छोड़ना भी नहीं चाहते और नया रास्ता

भी ढूंढ रहे हैं। इसने उसे भौतिक समृद्धि तो दी है, लेकिन साथ ही मनुष्य जाति अनेक कष्टों से घिर गई है। वह विकास के जिस रास्ते पर चल रही है, उसका अधिकतम हासिल प्रकृति के अधिक से अधिक दोहन पर निर्भर है। मनुष्य यह भूल चुका है, कि इस दोहन की एक सीमा है। उसके बाद उसकी सारी विकास यात्रा ही खतरे मे पड़ जाएगी।

आज जब कोरोनावायरस सामने है, तब कहा जा रहा है कि इसका निदान हमारे भीतरी सामर्थ्य पर निर्भर होगा . ऐसी स्थिति में उस ऋषि द्वारा पूछा गया प्रश्न प्रासंगिक है कि क्या भीतर के उत्थान के लिए भी कोई जतन किए गए हैं? सदियों से मनुष्य और प्रकृति के बीच में एक अबूझ रिश्ता रहा है जो प्रकृति रूप में दृश्य है, वही प्रकृति आदृश्य रूप से मनुष्य के भीतर भी मौजूद है।

हमारा अध्यात्म इसे अंतःकरण कहता है। और इसे मनुष्य की प्रकृति भी कहते हैं। इसके चार हिस्से हैं;—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इस अबूझ रिश्ते में मनुष्य ने एक बार मार्ग चुना, जो प्रकृति के साथ संघर्ष का मार्ग है। इस संघर्ष में जैसे-जैसे उसने बाहरी प्रकृति पर तथाकथित विजय प्राप्त की, समृद्धि बढ़ती चली गई। इसी तरह भीतर की प्रकृति के साथ मनुष्य ने संघर्ष का एक मार्ग चुना। और उसके इस द्वंद ने तथाकथित ज्ञान के भी अनेक रास्तों का सृजन किया। भारत की मनीषा ने एक और मार्ग खोजा, जो संघर्ष का नहीं, बल्कि सहजीवन का मार्ग है. प्रकृति के साथ सहजीवन का मार्ग। बाहर की प्रकृति और भीतर की प्रकृति दोनों के साथ सहजीवन का मार्ग है।

वैसे तो सभी अपने-अपने मार्ग को सही बताते चलते हैं, लेकिन आज जब पूरी मनुष्य जाति एक ऐसे स्थान पर खड़ी है, जहां उसे भविष्य के लिए कई निर्णय लेने हैं। यहां जो निर्णय लिए जाएंगे, संभवत वह मनुष्य जाति के अस्तित्त्व के निर्णय में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएंगे। ऐसे में यह बहुत आवश्यक हो जाता है कि हम प्रकृति के साथ सहजीवन के मार्ग और संघर्ष के मार्ग पर भी कुछ चिंतन करें।

पहला रास्ता प्रकृति के साथ सहजीवन का रास्ता है, जिस पर मनुष्य करोड़ों वर्षो से चलता रहा। प्रकृति के साथ संघर्ष तब भी था, लेकिन यह संघर्ष बहुत छोटा था। दूसरा रास्ता प्रकृति के साथ संघर्ष का रास्ता है, जिस पर मनुष्य कुछ सदियों से चल रहा हैं। लेकिन इतने कम समय में ही यह रास्ता विकास को विनाश की ओर ले चला है। ऐसी स्थिति में समाधान के लिए हम स्थिति सहजीवन की बात करेंगे। तो वही स्थिति होगी कि हम इस रास्ते को छोड़ना भी नहीं चाहेंगे, और प्रकृति के साथ सहजीवनके साथ प्रकृति के समस्त लाभ पाना चाहेंगे। अब हम भारत के चिंतन की ओर देखते हैं, तो पाते हैं कि यहां एक रास्ता हैं, जो भविष्य के लिए लक्ष्य प्राप्त करने में बहुत हद तक सहायक सिद्ध हो सकता है। यदि इस रास्ते में से कुछ ले सके तो पहली बात तो यह होगी कि मनुष्य जाति को प्रकृति के साथ संघर्ष हो किसी युद्ध की तरह नहीं, बल्कि कर्म की तरह करना होगा, जो अंततः कर्मयोग बनेगा।

दूसरी बात यह है कि बाहर की प्रकृति पर विजय के साथ-साथ भीतर की प्रकृति को भी जीतना होगा, क्योंकि इसके सामर्थ्य से ही तय होगा कि मनुष्य जाति का अस्तित्त्व कब तक सुरक्षित है। अंतिम बात यह है कि चाहे बाहर की प्रकृति हो या भीतर की प्रकृति, चाहे भौतिक प्रगति हो या फिर अध्यात्मिक, मनुष्य जाति को सदैव ध्यान रखना होगा कि हमारे विश्वास को श्रद्धा अथवा प्रेम का साथ कभी नहीं छोड़ना है। क्योंकि श्रद्धा अथवा प्रेम होगा वह तो हम संघर्ष को कर्म योग बना लेंगे और भौतिक जगत सच्चे अर्थो में विकास की होगी, विनाश की नहीं। साथ ही साथ, हमारी भीतरी प्रकृति के साथ यात्रा में भी यह प्रेम अथवा श्रद्धा हमारे भीतर द्वन्द्व का सृजन नहीं करेंगे, बल्कि मनुष्य जाति को उस रास्ते पर ले जाएंगे, जिस पर चलकर वह परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगी।

प्रायः आदमी का तात्पर्य आम 'आदमी' से उद्घटित होता है, जो इंसानियत एवं मानवता का प्रतिनिधि है। यह स्त्री एवं पुरूष दोनों का संबोधन है। यदि आदमी अपनी आत्मीयता से गिरेगा तो हैवान बनेगा, और वह आदमीयत

से ऊपर उठेगा तो देवता अवश्य बन जाएगा। यह शक्तिमान आदमी अपना ही मित्र और अपना ही शत्रु है। दुख की बात है कि प्रकृति की सबसे अनोखी यह रचना 'आदमी' आज उसके ही प्रतिकूल बन बैठा है। यदि आदमी प्रकृति के अनुकूल बन सके, तो पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आएगा। अन्यथा नर्क सर्वत्र दृश्यमान हो रहा है।

अब आदमी अपने को 'आदमी' नहीं भगवान मानने का आतुर है। उसकी मति भ्रष्ट हो गई है। उसने ज्ञान से दूरी बनाकर, विज्ञान से नाता जोड़ लिया है। उसने विज्ञान को ही ज्ञान समझने की भूल कर दी है। आज तो उसने विकास की दिशाहीन दौड़ से विनाश को ही आमंत्रित कर लिया हैं। सर्वनाश की ओर आदमी के कदम बढ़ते ही जा रहे हैं। आदमी का जन्म क्यों हुआ, उसे जीवन क्यों मिला? इसीलिए कि वह स्वयं को पहचान सके। वस्तुतः स्वयं को जान लेना ही उसका परम कर्त्तव्य है, और परम धर्म भी। आदमी को स्वयं अपने अंदर के रहस्य को खोजना चाहिए, तब भीतर तो आदमी ही बैठा मिलेगा, भगवान का भेजा हुआ आदमी। अपने को मंत्री, अधिकारी, व्यापारी और ना जाने क्या-क्या समझता है, लेकिन अपने अंदर बैठे आदमी को नहीं मानता। और अननंत काल से उसकी यह भूल अभी तक सुधारी नहीं जा सकी है।

आदमी को कई दुर्लभ शक्तियां प्राप्त है। उसे कर्म का अधिकार मिला है जो देवताओं को भी सुलभ नहीं है। वर्तमान जन्म में आदमी को प्रेम, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का अवसर उपलब्ध कराया गया है। बुद्धि एवं विवेक की सर्वोत्तम कृति यह 'आदमी' का चोला बार-बार नहीं मिलता। इसीलिए धर्म को धारण करके मुक्ति का उपाय करना ही उसके लिए एकमात्र निष्कंटक पथ है।

धर्म को धारण करने का मतलब है, प्रकृति के नियमों का अनुसरण करना। प्रकृति के नियमों के अनुसार हमें पेड़-पौधे और पशुओं से शिक्षा लेनी चाहिए कि कैसे वह एक दूसरे के स्वावलंबन और विकास को आगे बढ़ाते हैं। प्रकृति के विकास एवं उन्नयन हेतु पूरा प्रयास करें, बाकी लोग तो उसे नियम मानकर अवश्य पालन करेंगे।

धर्म का मतलब अतिशय शोषण नहीं है। धर्म का मतलब प्रकृति विरोधी कर्त्तव्य करना नहीं है। सबको साथ लेकर चलना, प्रकृति का पूर्ण विकास करना, धर्म का मतलब होना चाहिए।

IRTS गोरखपुर

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्डीयानं मूलबंधश्च बन्धो जालन्धराभिधः॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरण-नाशकम्॥

सकल गुणनिधान भगवान् राम

ओम प्रकाश मिश्र

भगवान् राम परमब्रह्म परमात्मा हैं। वे प्रत्येक परमाणुओ में व्याप्त चेतना शक्ति हैं। उन्होने **'बिप्र धेनु सुर संत हित'** अवतार लिया है। वे मानव-रूप मे अपरिमित तेज, ओजस्वी वाक्शक्ति एवं दिव्य आचरण के साथ प्रकट हुए हैं। वे अत्यन्त सहृदय, सुशील एवं सर्वगुणसम्पन्न महामानव हैं।, शील, सौन्दर्य, शक्ति एवं उदारता आदि उदात्त वृत्तियों के वे सजीव रूप हैं। उनका मानवीय गुणों से युक्त मर्यादामय उदात्त जीवन मानव मात्र के लिए एक आदर्श उपस्थित करता है।

राम का शील स्पृहणीय एवं अद्वितीय है। वे अनन्त शील की साक्षात् मूर्ति हैं। वे प्रातः उठकर माता- पिता और गुरू को प्रणाम करते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथ। मातु पिता गुरू नावहिं माथा।।

वे गुरूजनों का आदर करते है, सेवा भाव से विश्वामित्र के पैर दबाते हैं। जब गुरू वसिष्ठ राम के महल में आते हैं तो वे विनयपूर्वक उनका स्वागत करते हैं—

गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले रामु कमल कर जोरी।।
सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू।।

वे राजा जनक की सभा में धनुष-भंग करने के लिए तभी उठते हैं जब गुरू विश्वामित्र उन्हें आदेश देते हैं—

बिस्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेहमय बानी।।
उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनक परितापा।।

—रा.च.मा..,1/254/5-6

गुरु के वचन सुनकर राम उन्हें प्रणाम करते हैं और धनुष-भंग के लिये चल पड़ते हैं। धनुष को उठाने के पहले भी मन-ही-मन वे अपने गुरू का स्मरण करते हैं और तब धनुष को सहज ही उठा लेते हैं।

चित्रकूट में राम और भरत का मिलन तो शील और स्नेह का ही मिलन है। यह शील, स्नेह, विनय, त्याग आदि उदात्त वृत्तियों का समुच्चय सर्वथा अपूर्व है। शील से पूर्ण उस समाज को देखकर सभी वनवासी सात्त्विक वृत्ति में लीन हो जाते हैं, द्रवीभूत हो उठते हैं।

राम के प्रति यदि कोई राई के समान भी उपकार कर देता है तो वे उसे पर्वतसदृश मानते हैं। वे हनुमान जी के कार्यो का स्मरण करते रहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।।
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा।।

—रा.च. मा.5/32/5-6

वे प्रथम भेंट में ही विभीषण को लंका का राजा बना देते हैं, लेकिन मन-ही-मन यह सोचते हैं कि वे उसे कुछ भी नहीं दे पाये। लंका विजय के बाद राम अपने सहायकों को भूल नहीं पाते। वे उस विजय का श्रेय वानरों को देते हुए कहते हैं—

तुम्हरे बल मैं रावनु मार्‌यो। तिलक बिभीषन कहँ पुनि सार्‌यो।।

भगवान् राम अत्यन्त उदार है। वे अपनी माताओं में किसी भी प्रकार की भेद-बुद्धि नहीं रखते। यद्यपि उनकी जन्मदात्री माता कौसल्या थीं, लेकिन वे कैकेयी के लिये विशेष आदर का भाव रखते और उनके लिये भी 'जननी' शब्द का प्रयोग करते हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी।

रा.च.मा.,2/41/7

चित्रकूट में वे अन्य माताओं से पहले कैकेयी से मिलते हैं और सम्पूर्ण घटनाचक्र का काल, कर्म तथा विधाता के सिर मढ़कर उन्हें सान्त्वना देते है—

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई।।
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी।।

—रा.च.मा.,2/444/7-8

भगवान् राम का अपने भाइयों के प्रति अटूट प्रेम था। जब राजा दशरथ उनके राज्याभिषेक का निर्णय लेते हैं तो उन्हें यह अनुचित लगता है। वे कहते हैं कि केवल बड़े का ही राज्याभिषेक क्यों, अन्य भाइयों का क्यों नहीं—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई।।
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा।।
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।।

उन्होंने आजीवन एक पत्नीव्रत का पालन किया और स्वप्न में भी कभी परस्त्री का चिन्तन नहीं किया—

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी।।

—रा.च.मा.,1/131/6

राम अनन्त सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमा हैं। उनके रूप में तीनों लोकों के सौन्दर्य का चरम उत्कर्ष अभिव्यक्त होता है। वे सौन्दर्य के सार हैं। जनकपुर में बालक, वृद्ध और वनिता सब राम के सौन्दर्य-रस का पान करके भावाभिभूत हो जाते हैं। उस पुर में रानियाँ अटारियों पर बैठकर, राम का रूप निहारकर आत्म-विस्मृत हो उठती हैं। सीता की सखियाँ राम और लक्ष्मण के सौन्दर्य का सटीक वर्णन कर पाने में अपने को असमर्थ पाती हैं—

स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।।

—रा.च.मा.,1/229/2

वनगमन के समय उनकी रूप-राशि का पान करके ग्रामवासी जन आत्म-विभोर हो उठते हैं। ग्राम-वधूटियाँ राम-जानकी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती हैं तथा उनके अनुपम सौन्दर्य का दर्शन कर कृतार्थ हो जाती हैं—

राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फलु होहिं सुखारी।।
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा।।

—रा.च.मा.,2/114/3-4

राम के रूप पर देवता भी मोहित हो उठते हैं। यह सौन्दर्य और भव्यता राक्षसों के हृदय को भी स्पर्श करनेवाली है। राम पर आक्रमण क्रूर राक्षस तो उनपर बाण चलाना ही भूल जाते हैं—

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी।।

—रा.च.मा.,3/19/1

और तो और, मगर घड़ियाल, मत्स्य और सर्प-जैसे जलचर प्राणी भी राम के दिव्य सौन्दर्य को देखकर आनन्द से पुलकित हो उठते हैं—

मकर नक्र नाना झष ब्याला। सत जोजन तन परम बिसाला।।
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्ह कें डर तेपि डेराहीं।।
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे।।
तिन्ह कीं ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरि रूप निहारी।।

—रा.च.मा.,6/4/5-8

राम का सौन्दर्य दिव्य है। यह सौन्दर्य सगुण भक्तों के मन को एकाग्रता प्रदान करता है। इस सौन्दर्य के कारण मन भगवान् से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। भक्त अपने आराध्य को मानसिक चेतना में लाने के लिये उनके नाम, रूप और गुणों का स्मरण करता है। उनकी लीला का चिन्तन करता है। इससे उसके मस्तिष्क-पटल पर भगवान् की छवि अंकित हो जाती है और मन चंचलता को त्याग कर सगुण आराध्य के रूप सौन्दर्य में स्थिर हो जाता है।

भगवान् राम पर दुःखकातर हैं, करूणावरूणालय हैं, दीनानाथ हैं, अशरणशरण हैं। वे वन में अस्थि समूह को देखकर मुनियों से पूछताँछ करते हैं। उन्हें यह जानकर अत्यन्त दुःख होता है कि राक्षसों ने मुनियों का भक्षण किया है और ये उन्हीं की अस्थियाँ हैं। उनका हृदय करूणा से भर उठता है। वे उसी क्षण पृथ्वी को राक्षस-विहीन करने की कठोर प्रतिज्ञा करते हैं—

निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह।।

—रा.च.मा.,3/9

राम परम शक्तिसम्पन्न हैं। वे विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करते हैं और ताड़का, सुबाहु, खर-दूषण आदि राक्षसों को नष्ट कर देते हैं जिस शिव-धनुष को स्पर्श करने का साहस रावण और बाणासुर-जैसे योद्धा भी न कर सके, उसे वे सहज ही भंग कर देते हैं तथा युद्ध-भूमि में विभीषण की रक्षा करने के लिये रावण के द्वारा फेंके गये प्रचण्ड शूलक प्रहार स्वयं सह लेते हैं। वे अपनी शक्ति के बलपर बिना रथ, कवच और पदत्राण के ही रावण से युद्ध करने के लिए रणभूमि में पहुँच जाते हैं। वे कुम्भकर्ण और त्रिलोक-विजयी रावण के सदृश महाबली राक्षसों का संहार कर देते हैं। उनका बाण अमोघ है। वह कभी निष्फल नही जाता।

राम सर्वशक्तिमान् हैं, लेकिन वे मर्यादा की सीमाएँ कभी नहीं लाँघते। वे एक ही बाण से सैकड़ों समुद्रों को सोख सकते हैं, परन्तु मर्यादा का पालन करने के लिए समुद्र से राह माँगते हैं। लेकिन जब उनकी प्रार्थना का समुद्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तब वे उसके लिये दण्ड का उपक्रम करने लगते हैं। उनमें शक्ति के साथ क्षमाशीलता भी है। देवराज इन्द्र का पुत्र जयन्त उनके बल की परीक्षा लेना चाहता है। इस पर राम धनुष पर सींक का बाण संधान करते हैं और जयन्त प्राणों के भय से भागता है। अन्त में वह राम की शरण में आ जाता है और कृपालु राम उसे भी एकाक्षी करके प्राण-दान दे देते हैं।

इस प्रकार मर्यादापुरूषोत्तम राम का शील, सौन्दर्य और शक्ति का समन्वित स्वरूप हमारे लिये एक आदर्श है। यह हमारे जीवन में कर्त्तव्यपूर्ण उत्थान और उन्नयन का मार्ग प्रशस्त करता है। भगवान् राम मंगल-भवन और अमंगलहारी हैं। वे अनाथों पर दया करनेवाले अकाम ब्रह्मा भक्ति मानव के हृदय एवं मस्तिष्क को परम शान्ति प्रदान करती है—

रघुपतिभगति सुलभ सुखकारी। सो त्रयताप सोक भय हारी।।

प्राचार्य
जेठवारा प्रतापगढ़

गोवंश विषयक प्राचीन एवं अर्वाचीन परिदृश्य

डॉ. शम्भुनाथ त्रिपाठी 'अंशुल'

आर्ष संस्कृति से ही भारत में गाय की विशेष महत्ता रही है। पोषण एवं खाद्य की दृष्टि से मानव-जीवन के लिए गाय के विविध उत्पादों की अवर्णनीय उपादेयता रही है। गाय का दूध, दही, घी, गोबर, मूत्र आदि ऋषियों द्वारा मनःशुद्धि के कारक तत्त्व कहे गये हैं; इन्हीं के द्वारा पञ्चगव्य का निर्माण कर आत्मशोधन की परम्परा है। गो-वंश के प्रत्येक अवयव उपयोगी हैं। गोबर की खाद एवं बैलों की उपलब्धता गायों पर ही निर्भर रही है, जिससे कृषि-कार्य सम्भव हो पाता था। प्राचीन समय में मनुष्य की आर्थिक सम्पन्नता तथा समाज में उसका स्थान, उसके पास उपलब्ध पशुधन से ही आंका जाता था। यहाँ तक कि सभी सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में गाय एवं उसके उत्पादों का प्रयोग एक परम्परा के रूप में ग्रहण कर लिया गया। तत्कालीन समाज में खेती का सम्पूर्ण कार्य जो गो-सम्पदा पर ही निर्भर था। परिणामतः गायों का पालन एवं पोषण ही आर्थिक सुदृढ़ता का द्योतक होता था। गर्ग संहिता (गोलोक-खण्ड) में किसी के पास गायों की संख्या के आधार पर उसे विविध उपाधियों से सम्मानित करने का वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है—

(1) दस लाख या इससे ऊपर गायों का पालन करने वाला 'वृषभानु' कहलाता था।

(2) पाँच लाख के ऊपर नौ लाख तक गायों का पालन करने वाले को 'नन्द' कहा जाता था।

(3) पाँच लाख तक गायों का पालक 'उपनन्द' कहलाता था।

इस प्रकार भारत के सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में गाय मनुष्य के जीवन की अभिन्न अंग थी। सभी प्राचीन ग्रन्थों, वेदों, शास्त्रों, महाभारत, भविष्य-पुराण, पद्म-पुराण आदि में गाय के सम्मान एवं पूजा का सन्दर्भ प्राप्त होता है। गाय हमारे लिए इसलिए भी पूज्य है, क्योंकि गाय के शरीर के अन्यान्य अंगों में विविध देवी-देवताओं का वास माना गया है—

''सर्वे देवाः स्थिता देहे सर्वदेवमयी हि गौः।''

—(वृहत्पराशर-स्मृति)

वेद में गौ की महिमा वर्णित करते हुए उसे अहिंस्य बताया गया है।—

'माता रुद्राणां दुहिता, वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुये जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।।''

अर्थात् गाय रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, अदितिपुत्रों की बहन, और घृतरूप अमृत का भण्डार है। अतः प्रत्येक विचारशील पुरुष को निरपराध एवं अवध्य गौ का वध नहीं अपितु सतत सेवा करनी चाहिए।

प्राचीनकाल में ऋषि एवं संतगणों द्वारा अपने आश्रमों में गायों का पालन-पोषण किया जाता रहा है। महर्षि वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों की गो-सेवा लोक-प्रसिद्ध है। राजस्थान में जाम्बोजी, पाबूजी, तेजाजी आदि मनीषियों का नाम गो-संरक्षण के परिप्रेक्ष्य में बड़े ही समादर के साथ लिया जाता है। महाभारत काल में राजाओं द्वारा विजित राजा की हजारों-लाखों गायों के अपहरण का उल्लेख मिलता है तथा ऋषियों एवं ब्राह्मणों को प्रभूत गोदान करने का भी वर्णन सर्वत्र प्राप्त होता है। इससे यह पुष्ट होता है कि उस काल में गायों का पालन-पोषण एवं प्रबन्ध उच्चकोटि का तो था ही, चरागाह भी पर्याप्त वृहद् एवं विकसित थे।

मुगलकाल में मुगल बादशाह हुमायूँ ने गायों का मांस खाने पर प्रतिबन्ध लगाया था तथा 'आइने अकबरी' में गाय द्वारा लगभग 18 किलोग्राम प्रतिदिन दूध देने का प्रसंग भी आता है। गोवंश द्वारा मानव-समाज को अनेक सुविधायें व स्वास्थ्यवर्धक तत्त्व सुलभ होते हैं। महाभारत काल में ही सहदेव को बैल के ऐसे गुणों की पहचान थी, जिसके मूत्र की गन्ध सूँघने से स्त्रियों का बाँझपन समाप्त हो जाता था।

आयुर्वेद शास्त्र में गाय के दूध द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

(1) सफेदगाय का दूध यकृत की बीमरी में लाभप्रद बताया गया है।

(2) बादामी रंग की गाय का दूध वात-रोग में लाभकर कहा गया है।

(3) काली गाय के दूध को श्वास एवं फेफड़ों के रोग में देने की अनुशंसा की गई है।

(4) काली गाय जिसके थन भी काले हों उसका दूध तो औषधीय गुणों की खान कहा गया है।

अथर्ववेद 1/22/1 के अनुसार लाल रंग की गाय के दूध, दही, घी, मक्खन आदि से हृदय एवं पाण्डुरोग समूल नष्ट हो जाते हैं।—

'अनु सूर्यमुदयतां हृद्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वां परि दध्मसि॥'

प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि भारतीय गायों की मेरुशृंखला में एक ऐसी स्नायु होती है जिसे 'सूर्यकेतु' कहते हैं जो सूर्य-प्रकाश में स्वर्ण का निर्माण करती है। यह तत्त्व विषैले पदार्थों का प्रतिरोधक होता है इसी कारण सर्पदंशादि में गाय का घी पिलाने का सन्दर्भ आता है। चरक संहिता में गो-दूध के दशगुणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्।
गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः॥

(सू. स्थान 27/217)

अर्थात् गाय का दूध स्वादिष्ट, शीत, कोमल, चिकना, गाढ़ा, सौम्य, लसदार, भारी और बाह्य-प्रभव को विलम्ब से ग्रहण करने वाला तथा मन को प्रसन्न करने वाला होता है।

सुश्रुत संहिता में गाय के दूध के दही को स्निग्ध, परिणाम में मधुर, पाचक, बलवर्धक, वातनाशक, शुद्ध एवं रुचिकारक कहा गया है—

स्निग्धं बिपाके मधुरं दीपनं बलवर्धनम्।
वातापहं पवित्रं च दधि गव्यं रुचिप्रदम्॥

(सूत्र. 45/67-68)

इसी प्रकार गाय के घी को भी विपाक में मधुर, शीतल, वात, पित्त और विष का नाश करने वाला, आँख की ज्योति एवं शरीर की सामर्थ्य बढ़ाने वाला बताया गया है तथा इसे गुणों में सर्वश्रेष्ठ कहा है—

'विपाके मधुरं शीतं, वातपित्त विषापहम्।
चक्षुष्यमग्र्यं बल्यं च गव्यं सर्पिगुणोत्तरम्॥

(सुश्रु. सू. 45/97)

धार्मिक कार्यों में कार्यस्थल को ''गोमयेन संलिप्य'' से शुद्ध करने का विधान मिलता है। अर्थात् गाय के गोबर को स्वच्छता, ईंधन, खाद एवं धार्मिक कार्यों में प्रयोग किया जाता है। ऐसी सम्भावना व्यक्त की गई है कि गाय के गोबर में बैक्टीरियोफाज नामक विषाणु उपस्थित रहते हैं जो अनेक हानिकारक अन्य जीवाणुओं को पृथ्वी की उस सतह से, जिस पर गोबर का लेप होता है, नष्ट कर देते हैं। चरक संहिता में गोमूत्र की उपादेयता वर्णित करते हुए कहा गया है कि गोमूत्र कृमिनाशक, कोढ़, खाज एवं अन्य त्वचा-रोगों तथा यकृत् की बीमारियों में विशेष लाभकर है—

''गव्यं समधुरं किञ्चिद् दोषघ्नं कृमिकष्ठनुत्।
कण्डूं च शमयेत् पीतं सम्यग्दोषोदरे हितम्॥''

(सूत्र स्थान 1/101)

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि मानव-समाज हेतु गोवंश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व उपादेय है। गाय के द्वारा प्राप्त पञ्च-पदार्थ—दूध, दही, घी, मूत्र तथा गोबर में अनेक रोगों की चिकित्सा के गुण पाये जाते हैं। इन्हीं पदार्थोंसे पञ्चगव्य का निर्माण होता है तथा पंचामृत में भी इनका उपयोग किया जाता है। यहाँ यह निर्विवादित सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में गायों का पालन-पोषण खाद्य-आहार एवं धार्मिक-सामाजिक, औषधीय तथा कृषि आवश्यकताओं के लिए किया जाता था। इनके अतिरिक्त गो-पालन द्वारा पर्यावरण सन्तुलन तथा सामाजिक समरसता को भी बढ़ावा मिलता था। जनमानस गो-तत्त्वों का सेवन करते हुए हृष्ट-पुष्ट, निरोग व स्वस्थ होता था।

आज के वैज्ञानिक युग में सुलभ संसाधनों से हमें उन सभी पहलुओं पर गम्भीर शोध करने की नितान्त आवश्यकता है। महाभारत में गौ की महत्ता के सम्बन्ध में कहा गया है—

गोमिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाच्युत।
कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम्॥
गावो लक्ष्म्याः सदामूलं गोषु पाप्मा न विद्यते।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः॥
स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ।
गावो यज्ञस्य नेत्र्योवै तथा यज्ञस्य तामुखम्॥
अमृतं हयव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च।
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः॥
गावः कामदुहो देव्यो नान्यत् किञ्चित् परं स्मृतम्॥

(महा. अनु. 51/26-30, 33)

अर्थात् स्व-मर्यादा से कभी च्युत न होने वाले हे राजेन्द्र! मैं इस संसार में गौओं के समान कोई दूसरा धन नहीं देखता हूँ। वीर भूपाल! गौओं के नाम और गुणों का कीर्तन तथ श्रवण करना, गौओं का दान देना और उनका दर्शन करना आदि का विशेष महत्त्व शास्त्रों में वर्णित है। उक्त ये सभी कार्य सम्पूर्ण पापों को दूर करने वाले और परम कल्याण की सुलभता कराने वाले हैं। गौएं सदा लक्ष्मी की मूल है, उनमें पाप का लेशमात्र भी नहीं है। गौएं ही मनुष्यों को सर्वदा अन्न और हविष्य देने वाली हैं। स्वाहा और वषट्कार सदैव गौओं में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। गौएं ही सदा

यज्ञ का संचालन करने वाली तथा उसका मुख है। वे विकार-रहित दिव्य-अमृत धारण करने वाली और दुहने पर अमृत ही देती हैं। ये गायें ही स्वर्ग की सीढ़ी हैं जो स्वर्ग में भी पूजनीय हैं। गौएं समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली देवियां हैं। उनसे बढ़कर कोई दूसरा नहीं है। यजुर्वेद (8/43) में गाय को 'अहन्या' कहा गया है जिसका तात्पर्य गायों का वध न करने एवं उन्हें संरक्षण प्रदान करने से है। वेदों एवं शास्त्रों में गो-चारण का स्पष्ट संकेत मिलता है। श्रीकृष्ण के गोचारण के आधार पर ही उनका नाम गोपाल अथवा गोविन्द पड़ा है।

कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में द्वितीय सर्ग में गुरु वशिष्ठ द्वारा सन्तान-प्राप्ति के लिए गो-सेवा व्रत धारण करने का निर्देश वर्णित किया है। अर्थात् 'दिलीपस्य गोसेवा' रघुवंश का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है।

बौद्ध काल में भी गायों का अच्छा प्रबन्ध था। बूढ़ी अपाहिज गायों को विशेष स्थान पर रखने की व्यवस्था होती थी। झुण्डों का पंजीकरण होता था और चरागाह-प्रणाली प्रचलित थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी गोवध को महान् पाप कहा गया है, इसमें गायों के आहार एवं पोषण का भी वर्णन है। कृषि-पाराशर शास्त्र में गाय को आहार एवं ऊर्जा का प्रमुख स्रोत बताया गया है। जैन मतावलम्बियों के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने गोवंश, पशुओं के पालन-पोषण एवं उनकी उपयोगिता के बार में सम्यक् शिक्षा देने की प्रेरणा प्रदान किया है।

भारतीय संस्कृति में इतनी सम्पूज्य एवं समादरणीय गौ जिसे हम गोमाता से अभिहित करते हैं आज के वैज्ञानिक व स्वार्थपूर्ण युग में गाय के साथ अत्यन्त निर्दयता का व्यवहार किया जा रहा है। जिस गाय को परिवार के अंग की तरह पालकर उसके दूध, दही, घी, मक्खन आदि का सेवन किया जाता है, बैल से खेती की जाती थी तथा उसके गोबर से खाद तैयार कर भरपूर अन्न उत्पन्न किया जाता है तथा गोबर-कण्डों से ऊर्जा प्राप्त होती है, कितना दुःखद है कि उसी उपयोगी गोवंश को कृतघ्न मानव थोड़े से रुपयों के लोभ में क्रूरतापूर्वक कटने के लिए बेच देता है। पर्यावरण सन्तुलन एवं संरक्षण तथा मानव को स्वस्थ रखने में इन मूक निरीह पशुओं का भरपूर उपयोग करने के बाद वृद्ध, असहाय होने पर उनकी सेवा करने के बजाय चन्द रुपयों में इनको कसाइयों के हाथ बेच दिया जाता है। बूचड़खानों में इन निरीह पशुओं का अत्यन्त क्रूरता के साथ वध किया जाता है। जबकि वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से गाय मानव-जीवन को जीवित रहने पर जितना लाभ देती है, मरने पर उसका एक अंश भी लाभ नहीं मिलता है। इतना सब कुछ जानने के बाद भी निष्ठुर मानव इन निरीह प्राणियों के प्रति क्रूरता व निष्ठुरता क्यों करता है, समझ से परे की बात है।

कुछ काल पूर्व गोवंश के वध पर उच्चतम न्यायालय के सात न्यायाधीशों की बेंच ने एक ऐतिहासिक निर्णय दिया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विगत अनेक वर्षों से देश में गोवंश की हत्या रोकने के लिए सत्याग्रह, आन्दोलन, अनशन उपवास आदि होते आये हैं। सन्त-महात्माओं ने भी इसके लिए कारागार की यात्रायें कीं, कितनों ने तो इस पुणीत कार्य के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे दी, जिसके परिणामस्वरूप कुछ प्रदेशों ने गोहत्याबंदी का अधूरा कानून बनाया। चौदह वर्ष से अधिक आयु के बैल तथा गाय को मारने को कानून में छूट दे दी गई। इस प्रकार यह अधूरा कानून ही कुछ प्रदेशों में बन सका तथा पश्चिम-बंगाल, केरल, मेघालय, अरुणाचल आदि कई प्रदेशों में गोहत्या धड़ल्ले से होती रही। वहाँ इसे रोकने का कोई अधूरा कानून भी नहीं था।

इसी बीच गुजरात सरकार ने गोवंश की हत्या को पूर्ण रूप से प्रतिबन्धित करने का विधेयक विधानसभा में पारित किया, जिसे कुछ लोगों ने उच्चतम न्यायालय में चुनौती दे दी। उच्चतम न्यायालय में सात जजों की बेंच ने इस पर विचार किया और सुप्रीम कोर्ट ने गुजरात सरकार के विरुद्ध चुनौती दी गई इस याचिका को खारिज कर दिया तथा सम्पूर्ण गोवंश की हत्या प्रतिबन्धित करने को उचित ठहराया।

सुप्रीम कोर्ट का यह निर्णय राज्य सरकारों के लिए तथा केन्द्र सरकार के लिए एक नजीर के रूप में मार्गदर्शक महत्त्वपूर्ण निर्णय है। जिसके आधार पर सभी राज्य सरकारों को सम्पूर्ण गोवंश की हत्या को रोकने के लिए सशक्त कानून बनाना चाहिए। वर्तमान समय में यद्यपि लोकतन्त्र एक श्रेष्ठ शासन प्रणाली मानी जाती है, परन्तु इसमें भी विकृति तब आती है जब देश के कुछ राजनीतिक दल या सत्तालोभी लोग वोट-बैंक की लालच में उचित निर्णय नहीं लेते हैं। गाय भारतीय संस्कृति का केन्द्र-बिन्दु है। करोड़ों लोगों की आस्था इससे जुड़ी हुई है। हमारे ऋषि-महर्षि तथा शास्त्र कहते हैं कि गो-सेवा से आध्यात्मिक समृद्धि के साथ-साथ भौतिक समृद्धि भी प्राप्त होती है। आज देश में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, बाढ़, सुनामी लहर आदि जैसी प्राकृतिक आपदाएं निरन्तर बढ़ रही हैं। इसके अतिरिक्त आतंकवाद, हत्या और अपहरण की घटनाएं प्रतिदिन हो रही हैं। ये सब देश में गो-हत्या का ही परिणाम है।

सम्प्रति देश में गोवंश की हत्या पर प्रतिबन्ध तो लग गया है किन्तु लोग पाली जाने वाली गायों को आवारा छोड़ दे रहे हैं, खेती अब संयन्त्रों द्वारा की जा रही है, अतः बैलों की भी आवश्यकता नहीं रही। परिणामतः अधिकांश लोग अपने मवेशी छुट्टा छोड़ देते हैं जिससे किसानों की फसलों की क्षति हो रही है, साथ ही राजमार्गों पर टहलने वाले इन आवारा पशुओं की वाहनों की टक्कर से असामयिक मृत्यु भी हो रही है, जो अत्यन्त दुःखद एवं चिन्ताजनक है।

आँकड़ों के अनुसार आज यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि दूध न देने वाली ठांठ गायें भी देश में आर्थिक दृष्टि से भार-स्वरूप नहीं हैं। इनके भरण-पोषण का जो खर्च होता है उससे बहुत अधिक आय केवल गोबर और गोमूत्र से प्राप्त हो जाती है। अतः आज गोवंश-सुधार तथा गायों को धार्मिक परिप्रेक्ष्य के साथ ही व्यवहारिक स्तर पर देखने व आंकलन करने की आवश्यकता है। प्राचीन गौरवशाली गो-संस्कृति पुनः प्रतिष्ठित होनी चाहिए, इसी में देश व समाज का कल्याण सम्भव है।

पूर्व प्राचार्य,
श्री त्रिवेणी स्नातकोत्तर संस्कृत महाविद्यालय
दारागंज, प्रयागराज-211006
मो.-9919409727

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोभिधीयते॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः॥

अर्थात् एड़ी से योनि स्थान (पायु एवं उपस्थ के मध्यभाग) को दबाकर गुदा को आकुंचन (सिकोड़कर), अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करें, इसे 'मूलबन्ध' कहते हैं अथवा जिस विधि से अधोगति वाले अपानवायु को बलपूर्वक आकुंचन द्वारा ऊर्ध्वगामी किया जाता है, उसे योगीजन 'मूलबन्ध' कहते हैं।

हिन्दू धर्म के पौराणिक रहस्यों का उद्देश्य और अभिप्राय

रामगोपाल दास

1. परिक्रमाः

परिक्रमा का विधान संसार के समस्त धर्म और सम्प्रदाय में है। येरूशलम, मक्का, बोधगया प्रभृति-स्थलों पर विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के अनुयायी परिक्रमा करते हैं। परिक्रमा का पथ जीवन का सम्पूर्ण-पथ कहें या अन्तिम पथ ही है। यह 360 डिग्री पर वर्तुलाकार है। इसमें चलने वाला इष्ट को केन्द्र में रखकर चलता है। वास्तव में इष्ट को केन्द्र में रखकर चलना-डोलना परिक्रमा करना है। श्रीकृष्ण का केन्द्र में ध्यान करते हुए चलना-डोलना कामतानाथ की परिक्रमा है। ये हिन्दू-सनातनियों की विशेष परिक्रमा है। परिक्रमा-पथ में चलनेवाला व्यक्ति अपने से हर कोई को आगे देखता है, परिक्रमा करनेवाले व्यक्ति के ठीक पीछे जो चल रहा होता है उसे परिक्रमा करते समय परिक्रमा करने वाला सबसे आगे देखता है। पति है तो पत्नी उसके पीछे चल रही होती है, मालिक है तो नौकर उसके पीछे चल रहा होता है, राजा है तो प्रजा उसके पीछे चल रही होती है, गुरु है तो शिष्य उसके पीछे चल रहा होता है; परिक्रमा पूर्ण होने का वास्तविक अर्थ है कि, पति के ठीक पीछे चलने वाली पत्नी, मालिक के ठीक पीछे चलनेवाला नौकर, राजा के ठीक पीछे चलनेवाली प्रजा और गुरु के ठीक पीछे चलने वाला शिष्य जीवन में सबसे आगे दिखने लगे तो जीवन में परिक्रमा करने वाले के द्वन्द्व मिटा जाते हैं, क्रान्ति के बीज का अंकुरण हो जाता है, पुष्प-पलवन हो जाता है।

उदाहरणार्थ—श्री रामकृष्ण परमहंस जी अपने पत्नी शारदा एवं शिष्य स्वामी विवेकानन्द जी (नरेन्द्र) को पूज्य दृष्टि से देखते थे और स्थूल-रूप से भी पूजन-अर्चन करते थे। परिक्रमा बोध का वह स्तर है जिसमें आपके समस्त अधीनस्थ व सहयोगीजन आपको अपने से बड़े दिखने लगें तो स्थूल-दृष्टि से किये हुए समस्त परिक्रमा का फल आपको प्राप्त माना जाएगा।

पंचकोशीः

काशी का प्रसिद्ध पंचकोशी परिक्रमा आप सबको ज्ञात ही है। इसका वास्तविक अर्थ अन्नमय कोष, प्राणमय, कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष का अतिक्रमण कर सत्यं शिवम् सुन्दरम् सच्चिदानन्द को उपलब्ध होना है। परिक्रमा बाहर से करते समय अपने इष्ट के नाम-रूप का ध्यान करते हुए उपरोक्त तथ्यों का ध्यान करना पंचकोशी परिक्रमा का वास्तविक अर्थों में पूर्ण होना है।

सप्तकोशीः

हमारा शरीर सात धातुओं से मिलकर बना है। गोवर्धन सरकार की परिक्रमा से सातों धातुओं से बने हुए शरीर का पूर्ण शोधन हो जाए मानो गोवर्धन की सप्तकोशी परिक्रमा पूर्ण हुई। गोवर्धन इन्द्रियों का संवर्धन है, इन्द्रियों का संवर्धन जिससे होवे वह संयम-स्वरूप गोवर्धन है। यहाँ गो इन्द्रियवाची है। संयमपूर्वक जीवन जीना गोवर्धन की परिक्रमा का वास्तविक लक्ष्य है। स्थूल रूप से गोवर्धन की परिक्रमा करते हुए संयम-नियम का ध्यान करना परिक्रमा का आत्यन्तिक लक्ष्य होगा।

चौदहकोशीः

चौदहकोशी अयोध्या की परिक्रमा का वास्तविक लक्ष्य श्री रामजी के रूप एवं नाम का ध्यान करते हुए पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पाञ्च कर्मेन्द्रियाँ और चार अन्तःकरण इन चौदहों के निर्मलीकरण व पवित्रीकरण का लक्ष्य है।

चौरासीकोशीः

चौरासीकोश श्री अयोध्याजी के परिक्रमा का लक्ष्य श्री सीतारामजी के रूप-नाम का ध्यान करते हुए चौरासी लाख योनियों के आवागमन से मुक्त होकर सच्चिदानन्द बनकर नित्य भगवान के धाम में निवास करना है। चौरासीकोश चित्रकूट धाम की परिक्रमा का लक्ष्य तपस्वी-स्वरूप श्री सीताराम-लक्ष्मणजी के रूप व नाम का ध्यान करते हुए चौरासी लाख योनियों का अतिक्रमण करना है।

ब्रज चौरासीकोश यात्रा का लक्ष्य श्री राधामाधव सरकार के पाद-पद्मों को ध्यान करते हुए चौरासी लाख योनियों से छुटकारा पाकर नित्यलीला का अङ्ग बनना व दर्शन करना है।

छोटी छावनी, अयोध्या

विज्ञापन के लिए सम्पर्क करें–

Email – sridevrahababamanch@gmail.com
मोबा.–9454609198, 7753010001

बद्धायेन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तसमादुड्डीयानाख्योयं योगिभिः समुदाहृतः॥
उड्डीयानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगाः।
उड्डीयानं तदेव स्वात्तत्र बन्धोभिधीयते॥

अर्थात् जिससे बँधा हुआ प्राण ऊर्ध्वमुख होकर सुषुम्णा में पहुँच जाय, उस बन्ध को 'उड्डीयान' कहते हैं। देहावकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्ना में गति करता है, उसे 'उड्डीयानबन्ध' कहते हैं।

शिवप्रिया सती का भ्रम और सत्संग

रामदेव प्रसाद सोनी 'मानस-मधुकर'

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी की यशोगाथा का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास जी ने ''श्रीरामचरितमानस'' में किया है। श्रीराम के चरित्ररूपी मानसरोवर में अवगाहन करके अपने को कृतार्थ करने की कामना रखने वाले भगवत् प्रेमी को एक विशेष प्रकार के प्रवेश-पत्र (टिकट) की आवश्यकता होती है। श्रीराम के कथासरोवर में स्नान करने की अनुमति एवं अधिकार तभी मिलेगा जब व्यक्ति के पास सत्संगरूपी प्रवेशपत्र होगा। गोस्वामी जी ने मानस में स्पष्ट रूप से लिखा है—

जो नहाई चह यहु सर भाई, तौ सत्संग करहु मन लाई॥

जब तक व्यक्ति को सत्संग की अमृत-वर्षा ओतप्रोत नहीं करती, व्यक्ति विवेक-शून्य रहता है। गोस्वामी जी जनसामान्य के लिए लिखते हुए कहते हैं कि—''**बिनु सत्संग विवेक न होई**'' अर्थात् बिना सत्संग के विवेक की प्राप्ति नहीं हो सकती।

श्रीरामचरितमानस की रचना के 4 आधार-स्तम्भ मानस के मुख्य चार संवाद—याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद, शंकर-पार्वती संवाद, काकभुशुण्डि-गरुण संवाद एवं पाठक तथा तुलसी संवाद में, जिनके आधार पर मानस की रचना हुई प्रथम संवाद याज्ञवल्क्य एवं भारद्वाज पुत्री शिवप्रिया सती जी को भ्रम होता है। इस भ्रम का मूल कारण था ''सत्संग''। सत्संग का माहात्म्य कितना बड़ा होता है। सत्संग सुधामृत का तिरस्कार करने के कारण सतीजी को अपने शरीर तक त्यागना पड़ा। शिव से वियोग हुआ।

शिवप्रिया सती के भ्रम के मूल में सत्संग कैसे? इस पर विचार करने के लिए मानस के इस प्रारम्भिक प्रसंग पर दृष्टिपात करना आवश्यक है—

एक बार त्रेता जुग माहीं, संभु गए कुंभज रिषि पाही।
संग सती जग जननि भवानी, पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी॥
राम कथा मुनिबर्ज बखानी, सुनी महेस परम सुख मानी।

मानस की उपरोक्त चौपाईयों से स्पष्ट है कि महर्षि अगस्त्य के आश्रम को जाते समय गोस्वामी जी ने लिखा कि शिवजी के साथ सती जी भी हैं (संग सती जग जननि भवानी) लेकिन जब अगस्त्य जी ने भगवान श्रीराम की लीला का वर्णन सत्संग-सभा में शुरू किया और सुनाया तो उसको सुनने के समय सती जी नहीं थीं उन्होंने उस समय भगवान राम की यशोगाथा का वर्णन नहीं सुना। क्योंकि तब मानसकार ने लिखा—''सुनी महेश परम सुख मानी'' अर्थात् जाते समय तो सती जी साथ हैं लेकिन राम की कथा सुनते समय वह कथामात्र शंकर जी सुनते हैं सती नहीं। इसका परिणाम तुरन्त प्रत्यक्ष आया, जैसे ही सत्संग का विसर्जन हुआ और कुछ दिनों के बाद शंकर जी अगस्त्य जी के आश्रम से वापस हुए तो गोस्वामी जी के द्वारा लिखी गई निम्न पंक्ति का रहस्य भी दृष्टव्य है—

मुनि संग विदा मांगि त्रिपुरारी, चले भवन संग दक्षकुमारी॥

उपरोक्त चौपाई में सती जी को गोस्वामी जी ने 'दक्षकुमारी' शब्द से अभिहित किया। ऐसा मात्र इसलिए क्योंकि

सती जी द्वारा सत्संग का तिरस्कार किया गया और श्रीराम की कथा का अनादर करने वाले का कल्याण कैसे सम्भव? गोस्वामी जी की लेखनी सती जी को भी क्षमा नहीं करती और जहाँ जाते समय गोस्वामी जी ने इन्हीं सती को ''जग जननि भवानी'' कहा था वहीं वापस होते समय इन्हीं सती जी को ''दक्षकुमारी'' कहकर अभिहित करते हैं। अतः सत्संग का प्रभाव बड़ा ही विलक्षण एवं महत्त्वपूर्ण है।

सत्संग का तिरस्कार का परिणाम यह हुआ कि सती जी विवेकरहित हो जाती हैं और मार्ग में जब वे भगवान श्रीराम को लक्ष्मण सहित सीता जी के अन्वेषण में तत्पर देखती हैं तो उन्हें तुरन्त भ्रम हो जाता है और यह भ्रम सतीजी के हृदय में इतनी गहराई से पैठ जाता है कि शंकरजी के लाख समझाने पर भी नहीं मानतीं। शिवजी ने सती जी को समझाते हुए कहा कि हे सती—

जासु कथा कुंभज रिषि गाई, भगति जासु मैं मुनिहिं सुनाई।
जोइ मम इष्टदेव रघुवीरा, सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।।

परन्तु सती जी के पल्ले शिवजी के उपरोक्त उपदेश नहीं पड़े। क्योंकि उन्होंने तो कुंभज ऋषि के आश्रम पर राम की कथा सुनी ही नहीं थी तो उन्हें इस उपदेश से सन्तुष्टि कैसे मिलती? सती जी की बुद्धि यह मानने को तैयार नहीं थी कि यह वन-वन में भटक रहे राम वही राम हैं जो परात्पर ब्रह्म हैं तथा जिनका स्मरण स्वयं भगवान शिव भी करते हैं। वे तो राम को मात्र नृपतनय ही समझ रहीं थीं। वे ब्रह्म राम और दशरथनन्दन राम के मध्य सत्यता की परीक्षा के लिए तत्पर हो जाती हैं। विवेक-शून्यता की स्थिति में सती जी ने सोचा कि इस समय सीताजी का हरण हो चुका है और राम वन-वन में सीताजी को ढूँढ़ते हुए फिर रहे हैं ऐसी स्थिति में यदि सीता जी का ही भेष बनाकर राम की परीक्षा ली जाय तो उचित होगा क्योंकि यदि मेरे द्वारा सीता का भेष बनाने पर राम मुझे ''सती हैं'' इस तरह पहचान लेते हैं तो मैं समझूँगी कि ये वही राम हैं जो परात्पर ब्रह्म हैं, अन्यथा न पहचानकर सीता समझकर यदि ये मुझे पुकारते हैं या सीता की दृष्टि से देखते हैं तो मैं समझूँगी ये साधारण नृप-तनय ही हैं। इस प्रकार विचार करके सीताजी का वेश रखकर सती जी राम की परीक्षा लेने के लिए उसी ओर को चलती हैं जिधर से राम-लक्ष्मण सीताजी को ढूँढ़ते हुए आ रहे हैं।

परन्तु घट-घट में व्यापी राम ने सती जी की इच्छा और परीक्षा की नियत को पहले ही पहचान लिया था अतः दूर से ही सती जी को देखकर भगवान राम ने हाथ जोड़कर सतीजी को प्रणाम किया और कहा—

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू, पिता समेत लीन्ह निज नामू।
कहेऊँ बहोरि कहाँ वृषकेतू, विपिन अकेल फिरहुँ केहि हेतु।।

अर्थात् आप अकेले वन में किस कारण से घूम रही हैं तथा शिवजी कहाँ हैं। दशरथ जी का नाम लेकर अपना परिचय देने का कारण यह था कि रामचन्द्र जी ने सोचा कि वैसे ये मुझे ब्रह्म नहीं मान रही हैं अतः मैं इन्हें दशरथ-तनय के रूप में परिचय दे दूँ, जिससे यह और अधिक सुनिश्चित हो जायें कि मैं दशरथ का पुत्र ही ब्रह्म राम हूँ और इनकी शंका का निवारण हो सके। राम ने अपना ऐसा प्रभाव दिखाया कि सती जी का हृदय और शरीर कांपने लगा मानो उन्हें वज्रघात लग गया हो—

सती दीख कौतुक मग जाता, आगे राम सहित श्री भ्राता।
पुनि चितवा पाछे प्रभु देखा, सहित बंधु सिय सुंदर भेषा।।

इस तरह से राम की लीला का प्रकाश देखकर सती जी काँपने लगती हैं, और—

हृदय कंप तनु कछु सुधि नाहीं, नयन मुँदि बैठी मग माहीं।
बहुरि विलोकेऊँ नयन उधारी, कछु न दीखि तहँ दक्षकुमारी।।

इस तरह की आश्चर्ययुक्त माया और राम की लाली देखकर सती जी को यह तो विश्वास हो गया कि यह साक्षात् परब्रह्म राम ही हैं। किन्तु सती जी राम की लीला से इतना भयभीत हो गईं कि उनका आत्मविश्वास डगडगा गया और वे पूर्णतः विवेक-शून्य हो गईं। परिणामतः वापस शिव के पास पहुँचने पर उन्हें इतना भय लगा कि वे यथार्थ को छिपाकर शिवजी से झूठी बात बताई। शिवजी ने पूछा कि हे सती—''**लीन्हि परीखा कवन विधि**'' तो सतीजी ने अपने द्वारा किए गए कृत्य को न बताकर झूठ बोला और कहा कि हे प्रभू—''**कछु न परीखा लीन्हि गोसाईं, कीनिह प्रनाम तुम्हारिंहि नाई।**'' परन्तु शिवजी तो यह जानते ही थे कि जब—''**मोरेहु कहे न संसय जाहीं**'' तो भला सती जी परीक्षा का दृढ़निश्चय करके जाने के बावजूद परीक्षा न ली होंगी यह भला कैसे सम्भव होगा। अतः सती जी की बात पर विश्वास न करके शंकर जी ने—''**तब शंकर देखेऊँ धरि ध्याना, सती जो कीन्हि मरम सबु जाना।**'' जब ध्यान में सती जी द्वारा किए गए कृत्य को शंकर जी ने जान लिया तो भगवान शिव सोचते हैं कि सीता जी को भेष रखने वाली सती अब तो मेरी माता के समान हो गई क्योंकि भगवान् राम को शंकरजी पित्रवत् एवं सीताजी को मात्रवत् मानते थे, अतः विचार करने के बाद शिवजी ने सोचा कि—''**जौ अब करहुँ सती सन प्रीती, मिटइ भगति पथ होइ अनीति।**'' अतः शिव जी वहीं अपने मन में संकल्प लेते हैं कि—

शिव संकल्पु कीन्ह मन माही, एहिं तन सतिहिं भेंट मोहि नाहीं।

यद्यपि सती जी से शंकरजी ने उन्हें त्यागने की बात बताई नहीं तथापि उनके रुख से सती जी ने यह जान लिया कि मेरे द्वारा किए गए कृत्य के कारण ''**प्रभु मोहि तजेऊँ हृदय अकुलानी**'' और अनत में यह व्याकुलता पुनः उन्हीं सतीजी को भगवान श्रीराम के शरण में ले जाती है और सती जी यह जानते हुए की अब आखिर में इस तन से शिवजी मुझे पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे यह शरीर त्यागना ही श्रेयस्कर होगा, भगवान् राम से प्रार्थना करती हैं—

जौ प्रभु दीन दयाल कहावा, आरति हरन वेद जसु गावा।
तौ मैं विनय करऊँ कर जोरी, छूटऊ बेगि देह यह मोरी।।

और अन्ततः सती जी की यह प्रार्थना स्वीकार हो ही जाती है कारण और संयोग एकत्रित हुए। दक्ष प्रजापति के यहाँ वृहस्पतिश्व नामक यज्ञ का आयोजन हुआ। ब्रह्मा जी की सभा में दक्ष को प्रणाम न रने के कारण दक्ष प्रजापति शिव जी से उस अपमान का बदला लेने के लिए पहले ही उत्सुक थे अतः उन्होंने शिव जी को न तो बुलाया और नहीं यज्ञ में उनका भाग ही लगाया। सती जी शिव जी के मना करने के बाद भी पिता के गृह जाती हैं और वहाँ पर शिव जी का अपमान हुआ देखकर सभी के सामने योग अग्नि में जलकर अपने शरीर का परित्याग कर देती हैं। इस घटना की जानकारी भगवान शिव जी को सबसे पहले देवर्षि नारद जी जाकर कैलाश पर देते हैं। इसका मूल कारण सती जी द्वारा सत्संग सुधामृत का तिरस्कार करना ही था क्योंकि यदि सत जी ने अगस्त्य जी के आश्रम में रामकथा/सत्संग सुधामृत का पान किया होता तो वे भ्रमित न होती उन्हें मोह न होता।

इस प्रकार सती का दक्ष यज्ञ में अपने प्राणों को त्यागने के प्रकरण में आदि एवं मूल कारण सत्संग ही था। भगवान् शिव के अतिरिक्त दक्ष प्रजापति के इस यज्ञ में ब्रह्मा एवं विष्णु जी भी नहीं गये थे क्योंकि शिव जी पूर्णतः मूर्तिमान विश्वासन के देवता हैं और जिस यज्ञ में विश्वास न हो और यज्ञ बिना विश्वास के आयोजित किया गया हो भला उस यज्ञ में विष्णु एवं ब्रह्मा जी क्यों जायेंगे, और जब सृष्टि के मूल त्रिदेव ही यज्ञ में नहीं जायेंगे तो यज्ञ का विनाश तो सुनिश्चित है ही।

अस्तु! संसार में सत्संग से बड़ा कोई धन नहीं है बिना सत्संग के संसार का प्राणी सुखी नहीं रह सकता। गोस्वामी जी ने मानस में लिखा कि संसार में स्वर्ग और अपवर्ग से भी यदि सत्संग के एक पल की तुलना की जाय तो सत्संग श्रेष्ठ रहेगा—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग।।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि संसार का कल्याण एवं सांसारिक प्राणियों को सुख एवं शान्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब वह सत्संग सुधामृत का पान करें। अतः समस्त भगवत्प्रेमियों को एवं मानव समुदाय को सत्संग रूपी प्रवेश-पत्र के माध्यम से रामकथा रूपी मानसरोवर में अवश्य ही स्नान करके अपने एवं अपने कुल को इहलोक व परलोक को संवारने का सुसमय संजोना चाहिए एवं सत्संग सुधामृत के माध्यम से विश्व के कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करना चाहिए।

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला।।
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता।।

कण्ठमाकुंच्य हृदये सथापयेच्चिबुकं दृढ़म्।
बन्धों जालंधराख्योयं जरामृत्यु-विनाशकः।।

अर्थात्—कण्ठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगाएं, यह जरामृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध है।

''रम्या-रामायणी-कथा'

हरिश्चन्द्र दूबे

कूजन्तं राम रामेति मधुर मधुराक्षरम्।
आरूह्य कवितां शाखां वन्दे वाल्मीकि कोकिलम्॥

वाल्मीकि रामायण लौकिक संस्कृत साहित्य' का आदि काव्य है, इस काव्य को न केवल भारतीय साहित्य में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, बल्कि विश्व साहित्य के इतिहास में भी यह ग्रन्थ अनुपम एवं अद्वितीय है। वाल्मीकि रामायण में भारतीय संस्कृति एवं एक आदर्श मर्यादित जीवन चरित्र का जितना भव्य रूप उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इस ग्रन्थ में भारतीय राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता का सुन्दर दिग्दर्शन परिलक्षित होने के साथ ही साथ भौगोलिक एकता भी देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में चमत्कृत है।

संस्कृत साहित्य के काव्यग्रन्थ ध्वन्यालोक में श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य ने कहा है कि—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

महर्षि वाल्मीकि के क्रौंञ्च द्वन्द्व के वियोग से समुत्पन्न भाव-प्रवाह ही काव्य आत्मा के रूप में परिगणित होता हुआ श्लोक के रूप में निष्पन्न हुआ—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

उपर्युक्त वाग्धारा तमसा नदी के तट पर महर्षि वाल्मीकि के कण्ठ से फूट पड़ी थी जब उन्होंने काम से मोहित क्रौंञ्च मिथुन में से एक के वध को अपनी आँखों से देखा। इसी श्लोक को लौकिक संस्कृत साहित्य का प्रथम श्लोक माना जाता है एवं यहीं से वाल्मीकि रामायण की रचना प्रारम्भ होती है।

भगवान रामचन्द्र एवं सीता के विमल चरित्र को महर्षि वाल्मीकि की काव्य प्रतिभा ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से चमत्कृत किया है। यह ग्रन्थ भारतीयों के हृदय का मनोहर उच्छवास है। रामायण में मानव का उत्कृष्ट आदर्श अपने चरमोत्कर्ष पर देदीप्यमान है, इसके पात्रों के रूप में धर्मरक्षक एवं पिता के आज्ञापालक राम जैसा आदर्श पुत्र, भरत लक्ष्मण के समान तपस्वी भाई, दशरथ के समान पिता, कौशल्या आदि माताएं, हनुमान के समान सेवक, सीता के समान पत्नी, वशिष्ठ के समान गुरु आदि हैं। इस प्रकार की पात्र-योजना अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में मिलना कठिन है। यही कारण है कि परवर्ती कवियों ने इस ग्रन्थ को अपना उपजीव्य मानकर अनेक ग्रन्थों की रचना कर डाली इससे भी वाल्मीकि रामायण की रमणीयता एवं महानता सिद्ध होती है।

सुग्रीव द्वारा राम-लक्ष्मण के समक्ष जब माता सीता का आभूषण परिचय के निमित्त दिखाया जाता है, उस समय लक्ष्मण केवल नूपूर को ही एक नित्य चरण स्पर्श करते रहने से पहचान लेते हैं, किन्तु अन्य आभूषणों को नहीं। कितना उत्कृष्ट चरित्र है लक्ष्मण का—

केयूरे नाभिजानामि नैव जानामि चाङ्गदे।
नूपूरे त्वभिजानामि, नित्यं पदाभिवन्दनात।।

माता सुमित्रा ने श्रीराम वन गमन के समय अपने पुत्र लक्ष्मण को राम के साथ जाने का आदेश देकर रामायणी कथा को और भी उत्कृष्ट बना दिया है—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात् यथा सुखम्।।

इसी प्रकार माता सीता का चरित्र भी महर्षि वाल्मीकि ने अत्यन्त सावधानीपूर्वक चित्रित किया है जो कि भारतीय नारी के उच्चादर्श को प्रस्तुत करता है। रावण जब कई प्रलोभन देता हुआ सीता को अपनी रानी बनाने का प्रस्ताव रखता है तब माता सीता उसे अपने पाद स्पर्श के योग्य भी नहीं समझती हैं, कितना उच्च विचार एवं चरित्र है—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं कि पुनरहं कामयेयं पिगर्हितम्।।

सम्पूर्ण रामायण के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें सभी पात्रों के उच्च आदर्शों का ही चित्रण किया गया है जिससे इसके व्यापक उद्देश्य की पूर्ति होती है। रामायण की लोकप्रियता के सन्दर्भ में यदि हम अनुशीलन करना चाहें तो हम देखते हैं कि इस ग्रन्थ को विद्वान् से लेकर अनपढ़, बालक, वृद्ध, युवा, साधु-संन्यासी एवं सभी वर्गों के लोग समादरपूर्वक इसके अध्ययन में अहर्निश तल्लीन रहते हैं।

क्रान्तदर्शी वाल्मीकि ने उपर्युक्त तथ्य को रचनाकाल के समय ही जान लिया था और लिखा था—

यावद् स्थास्यन्ति गिरमः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायण कथा, लोकेषु प्रचरिष्यति।।

इस प्रकार चिरकाल तक प्रवाहमान रहने वाली रामायणी गंगा भुवन-त्रम को पावन करने वाली है—

वाल्मीकि गिरि सम्भूता राम सागर गामिनी।
श्रीमद् रामायणी गंगा पुनाति भुवन त्रमम्।।

नलचम्पूकार त्रिविक्रम भट्ट ने अपने ग्रन्थ के मंगलाचरण में आदि कवि वाल्मीकि को प्रणाम किया है और लिखा है कि—

सदूषणापि निर्दोषा सरवरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा।।

अर्थात् खर एवं दूषण राक्षसों के कथानक से युक्त होने पर भी निर्दोष (काव्यगत दोषों से रहित) एवं सुन्दर कोमल भावों वाली रमणीय रामायण की कथा जिसने बनायी उस आदि कवि वाल्मीकि के लिये प्रमाण है।

प्रा.सहा.-संस्कृत, राजकीय पाण्डुलिपि पुस्तकालय, प्रयागराज

आहार तोड़ौ निद्रा मोड़ौ कबहुँ न होइबा रोगी।
छठै छमासै काया पलटिबा ज्यूँ कोई बिरला बिजोगी।।

कलियुग रूपी असुर की वास्तविकता के दर्शन त्रेता और द्वापर में

सोनिया चक्रवर्ती

जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥

आखिर कलियुग की छवि त्रेता और द्वापर युग में भी किस प्रकार दिखाई दी जबकि वह युग तो राम और कृष्ण का था। क्या हम सभी ने इस पर कभी विचार विमर्श किया है? कलियुग आखिर है क्या? त्रेता और द्वापर युग में भी इसकी वास्तविकता किस प्रकार उदित हुई होगी। मैंने इस माया रूपी भवसागर को समझने के लिए रामायण, महाभारत, भगवतगीता जैसे ग्रन्थों का अध्ययन किया मेरे मन मस्तिष्क में एक ही प्रश्न बार-बार परेशान करती रही कि आखिर त्रेता और द्वापर युग में भी कलियुग नामक राक्षस था, कभी माया के रूप में तो कभी मोह, लोभ, धन, राज, पाठ, स्त्रीमोह के वश में जकड़ा था, यह कलियुग हमारे अन्दर उत्पन्न हो रही मानसिकता है। जब मनुष्य के अन्दर इन सब दुर्विचारों की उत्पत्ति होती है तब कलियुग नामक राक्षस उत्पन्न होता है।

इसके अनेक उदाहरण हमें ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। उदा.—रामायण में आखिर प्रभु श्री राम को वनवास जाने की स्थिति क्यों उत्पन्न हुई, आखिर राज-पाठ के लिए माता और पुत्र के बीच क्लेश, लोक, माया की उत्पत्ति क्यों हुई? मंथरा नामक मानसिकता का जन्म ही क्यों हुआ? इन दोहा के माध्यम से समझने का प्रयत्न करें।

गूढ़ कपट प्रिय बचन सुन तीय अधरबुधि रानि।
सुरमाया बस बैरिनिहिं सुहृद जानि पतिआनि॥

(मानस-2/16)

बुद्धि की शक्ति से कुटिल मंथरा ने उल्टा सीधा कैकेई को भड़काना प्रारम्भ किया और यह स्थिति उत्पन्न हुई की कैकेई माता ने प्रभु श्री राम के लिए 14 वर्ष का वनवास मांग डाला।

क्या यह कलियुग नामक राक्षस की उत्पत्ति नहीं थी, आखिर मनुष्य के अन्दर व्याप्त लालच ही चाहे वो धन का हो या किसी स्त्री या फिर किसी शत्रुता का कारण यह एक आसुरिक प्रवृत्ति को जन्म देती है।

ठीक इसी प्रकार द्वापर युग के अन्त में भी श्री कृष्ण ने कलियुग की भविष्यवाणी की थी, भागवतगीता के उपदेशों के माध्यम से श्री कृष्ण ने अपने वचनों से अर्जुन को कहा।

दूरे वार्ययनं तीर्थं लावण्यं केशधारणम्।
उदरंभरता स्वार्थः सत्यत्वे धाष्टर्यमेवहि॥

अर्थात्—कलियुग में बच्चे अपने माता-पिता पर अत्याचार कर रहे है। इस कलियुग में लोग तीर्थों की पूजा करते है लेकिन माता-पिता की सेवा नहीं करते, सुंदरता के नाम पर लंबे बाल रखे जाते हैं लेकिन पेट भरने के नाम गरीबी का हवाला दिया जाता है। इसी कलियुग की भविष्यवाणी हवाला दिया जाता है। इसी कलियुग की भविष्यवाणी गीता में कृष्ण ने की थी।

गीता में श्री कृष्ण के कई श्लोक है जो हमें कलियुग की वास्तविकता के दर्शन कराते हैं। ये महामारी भूखमरी, अराजकता आखिर क्यों? क्या आपने कभी सोचा है। विचार किया है। ग्रन्थों का अध्ययन करें आपको खुद ब खुद उत्तर मिल जायेंगे।

अनान्यतैव असाधुत्वे साधुत्वे दंभ एव तु।
स्वीकार एवं चोद्वाहे स्नानमेन प्रसाधनम्।।

अर्थ—कलियुग में धन को ही लोग भगवान मानेंगे जिस व्यक्ति के पास धन नहीं होगा उसे लोग अपवित्र बेकार और अधर्मी मानेंगे। विवाह के नाम पर समझौते होंगे और लोग स्नान की ही शरीर का शुद्धिकरण समझेंगे।

दाक्ष्यं कुटुंबभरणं यशोऽर्थे धर्मसंवनम्।
एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिः आकीर्णे क्षितिमण्डले।।

अर्थ—कलियुग दिखावे का युग होगा, लोग सिर्फ दूसरो के सामने अच्छा दिखने के लिए धर्म कर्म के काम करेंगे। पृथ्वी पर ज्यादातर भ्रष्ट लोग रहेंगे। सत्ता और शक्ति हासिल करने के लिए किसी को मारने में पीछे नहीं हटेंगे।

अन्त में अपनी पंक्तियों को विश्राम देते हुए बस इतना कहूँगी कि कलियुग नामक राक्षस प्रत्येक मानव के अन्दर विद्यमान है बस कोई अपनी मानसिकता में स्वयं का नियंत्रण कर लेता है और कोई अपने राह से भटक जाता है। हमें सारी विपत्तियों से बचाने के लिए राम, कृष्ण धरती पर नहीं आयेंगे। अपितु हमें ही धर्म ग्रन्थों के माध्यम से प्रभु में लीन होना पड़ेगा। मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म हैं दूसरे मनुष्य की सेवा करना और उनका सम्मान करना, माता-पिता की सेवा बड़े बुजुर्गों का सम्मान, देश सेवा, गौ सेवा, पशु सेवा प्राणी का सर्वप्रथम धर्म है।

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।

अर्थात्—जब वात, पित्त और कफ सन्तुलित हों, शरीरगत अग्नि सम हो, सप्तधातु और मल-निष्कासन-क्रिया सम अवस्था में हो तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और आत्मा प्रसन्न हो, तब ही मनुष्य स्वस्थ है, ऐसा कहा जाता है।

सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में हठयोग

डॉ. अरुण कुमार त्रिपाठी

हठयोग साधना मुख्यरूप से प्राणों की साधना है। नाथपन्थ के अनुसार यह योगविद्या शिव जी ने नाथपन्थ के पहले योगी मत्स्येन्द्रनाथ को प्रदान किया। योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ ने इसे अपने शिष्य गोरखनाथ को दिया। परम्परा से प्राप्त इस विद्या को महायोगी गुरु गोरखनाथ ने मानवता के कल्याण के लिए जनमानस तक पहुँचाया। हठयोग की व्याख्या करते हुए ब्रह्मानन्द ने ''हठयोग प्रदीपिका'' में लिखा है—**हश्च ठश्च हठौ सूर्यचन्द्रौ तयोर्योगः हठयोगः। एतेन हठशब्दवाच्ययोः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोगः।**

हठयोग के सम्बन्ध में नाथपन्थ के महायोगी गुरु गोरखनाथ ने सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में स्वयं लिखा है—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते॥

अर्थात् 'ह' कार सूर्य स्वर या नाड़ी का द्योतक है और 'ठ' कार चन्द्र स्वर है। सूर्य एवं चन्द्र स्वरों के योग से ही 'हठयोग' शब्द निष्पन्न होता है। हमारे श्वास लेते समय दोनों स्वर एक साथ कार्य नहीं करते, इनमें कोई सन्तुलन नहीं होता। परन्तु हठयोग की साधना में दोनों स्वरों में सन्तुलन सथापित होता है।

जब दायां स्वर (सूर्य नाड़ी) चलता है, तब हमारे शरीर की प्राणशक्ति क्रियाशील होती है। अधिकांश शारीरिक क्रियाएँ, विकास रक्षण एवं संचालन आदि इसी शक्ति द्वारा सम्पन्न होती हैं। जब बायाँ स्वर (चन्द्र नाड़ी) चलती है तो चेतना-शक्ति क्रियाशील होती है। मांसिक क्रियाओं का संचालन इसके माध्यम से होता है। परन्तु जो साधक हठयोग की साधना करता है उसकी दोनों शक्तियों (नाड़ियों) में सन्तुलन स्थापित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप तीसरा स्वर सुषुम्ना नामक नाड़ी जाग्रत होती है। इसे ही आध्यात्मिक शक्ति भी कहते हैं।

सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में नवचक्रों का वर्णन किया गया है। परन्तु हठयोग की साधना छह चक्रों पर ही आधारित है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र छः चक्र हैं। इन्हीं चक्रों का भेदन करके साधक सहस्त्रार में शिव का साक्षात्कार करता है। परमपूजनीय श्री योगी आदित्यनाथ महाराज जी का कहना है कि ''हठयोग तन को स्वस्थ मन को स्थिर और आत्मा को परमपद में प्रतिष्ठित करने तथा अमृतत्त्व को प्राप्त करने का अमोघ साधन तथा महाज्ञान है।''

प्राणायाम से प्राण स्थिर होता है। इसे ही सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में ''प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता'' कहा गया है। साधक प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर आत्माभिमुखी कर देता है। इसीलिए अपने चित्त में आत्मतत्त्व का चिन्तन हठयोग की साधना में ध्यान कहलाता है। इस प्रकार से हठयोग का परमलक्ष्य कुण्डलिनी जागरण करके परमशिव का साक्षात्कार करना तथा कैवल्य की प्राप्ति है।

झूँसी, प्रयागराज, 9918456889

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।

—गोरक्ष संहिता